(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक —

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण
१०००

१९६७

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली :—

(१) श्री भंवरीलाल जी जैन पाण्डया, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्डया, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० वारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२, ,, सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जय
(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी, जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्डया, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह

(२५) श्री बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर
(२७) ,, ला० सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत
(२८) श्रीमती धनवंती देवी ध० प० स्व० ज्ञानचन्द जी जैन, इटावा
(२९) श्री दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर, कानपुर
(३०) श्री गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा, लालगोला
(३१) दि० जैनसमाज नाई मंडी, आगरा
(३२) दि० जैनसमाज जैनमन्दिर नमकमंडी, आगरा
(३३) श्रीमती शैलकुमारी ध० प० बा० इन्द्रजीत जी वकील, कानपुर
* (३४) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया
* (३५) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छावड़ा, झूमरीतिलैया
* (३६) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
* (३७) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या, जयपुर
* (३८) ,, बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर मेरठ
* (३९) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
× (४०) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
× (४१) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की
× (४२) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला
× (४३) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला

नोटः—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुप दुख का खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

❀ अहिंसा परमो धर्म ❀

नियमसार प्रवचन षष्ठम भाग

वक्ता— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज

परमार्थप्रतिक्रमणकी आवश्यकता— यह प्राणी अनेकानेक दोषोंका भण्डार बन रहा है। है तो यह प्रभुकी तरह अनन्त प्रभुतासे परिपूर्ण, किन्तु इस अपने स्वभावको भूलकर, यह प्राणी बाह्यपदार्थोंमें आकर्षित होकर अनेकानेक दोषोंका पिंड बन रहा है। उन दोषोंकी वृत्तिके कारण यह आकुलित होता है, जन्ममरणके संकट सहता है। जितने भी उपद्रव हैं उन सब उपद्रवोंको इस अज्ञानी प्राणीको भोगने पड़ रहे हैं। कोई ऐसा उपाय मिले जिससे परमार्थतया उन दोषोंका प्रतिक्रमण हो जाय अर्थात् परिहार हो जाय, तब ऐसी स्थितिमें यह जीव अपने गुण विकासका स्वाधीन सत्य आनन्द प्राप्त कर सकता है। लोकमें जितने भी पुराणपुरुष हैं उन्होंने यह कार्य किया था। इस कारण वे आज शुद्धनिर्दोष केवलज्ञान-सम्पन्न त्रिलोकाधिपति हैं, लोक और अलोक समस्त त्रिकालवर्ती पर्यायों के स्पष्ट ज्ञाता हैं, अलौकिक समृद्धिसे सम्पन्न हैं, उन्होंने परमार्थ प्रति-क्रमण किया था अर्थात् परमार्थस्वरूपमें बसे हुए विकारोंको हटाया था। इस परमार्थ प्रतिक्रमणके उदय बिना इस जीवको शांतिका मार्ग नहीं मिल सकता है। यह बात ध्रुव सत्य है।

अल्पज्ञताका क्या गर्व— हम लोग किस बात पर गर्व किए जा रहे हैं? गर्व करने लायक हमारा आपका ज्ञान नहीं है। ज्ञानके अनन्तवें भाग प्रमाण मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञानके मुकाबलेमें भी एक तुच्छ प्रतिबोध है और विशिष्ट श्रुतज्ञानियोंके सामने भी यह हम आप लोगोंका पाया हुआ ज्ञान कुछ भी तुलना नहीं करता है। किस बात पर गर्व किया जाय? यहांके इज्जत, मान, पोजीशन, प्रतिष्ठा इनका क्या गर्व करना? इस पोजीशनकी चाहकी डाइनने इस जीवको बरबाद कर दिया है। यह माया-मय संसारमें जिसमें अपना कुछ शरणतत्त्व नहीं है यहां यह वेहताश भटक रहा है। दूसरे जीवोंकी आशा करके दीन बनकर अपनेको पतित बना रहा है। विषयोंकी आशा करके, विषयोंके साधनोंसे गिड़गिड़ाकर यह दीन बन रहा है। कैसा आनन्दनिधान परमपावन सर्वोत्कृष्ट स्वरूप वाला मैं आत्मा हूं और आज कहां दयनीयदशामें पड़ा हुआ है, तिस पर भी खेद और आश्चर्य इस बातका है कि न कुछ मिली हुई सम्पत्ति पर, न कुछ कपोलकल्पित यहांकी वार्तायोंमें यह गर्व किए जा रहा है।

महान् अपराध व उसके दूरीकरणका उपाय— कोई महान् अपराध हो जाय तो उसकी शुद्धिका भी विकट महान् यत्न करना पड़ता है। क्या हम आप सबसे महान अपराध हुए हैं? सबसे महान् अपराध तो यह है कि महान् अपराध करते हुए भी अपनेको चतुर समझे चले जा रहे हैं। ऐसे कठिन अपराध की शुद्धि कैसे हो? इसका उपाय है परमार्थप्रतिक्रमण। परमार्थप्रतिक्रमण उस भावमें रहा करता है जिस भावमें आत्मा विशुद्ध परमार्थस्वरूप बसा रहा करता है। मैं क्या हूं—इस सम्बन्धमें यदि परमार्थ यथार्थ सत्य सहजरूप प्रतीति है तो उस वर्तमान परमार्थप्रतिक्रमणरूप पुरुषार्थके कारण भव भवके बद्ध कर्म भी विफल हो जाते हैं। प्रतिक्रमणका साधारण लक्षण है लगे हुए दोषोंका दूर करना। लगे हुए दोष दूर होंगे दोषरहित ज्ञानपुंज आत्मस्वभावकी दृष्टिसे। किसी भी चीजका विनाश होता है तो उसके प्रतिपक्षी पदार्थके यत्नसे होता है। आत्माके दोष हैं काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, और उन दोषोंके निमित्तभूत हैं उन्हीं दोषोंके कारण पूर्वकालमें बांधे हुए द्रव्य कर्म। इन सबका दूरीकरण कैसे हो? उसका उपाय मात्र एक है। वह उपाय है सर्वदोषोंसे रहित केवल ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्वका दर्शन अवलोकन, आशय और आलम्बन। एक इस ही उपायसे समस्त ऐब टल जाते हैं।

पूर्वज ऋषि संतोंकी अनुपम देन— अपने पूर्वज कुन्दकुन्दाचार्य आदिक ऋषी संतोंकी अपार परमकरुणाका लाभ तो लूट लीजिए। कितनी उन्होंने हम सब जीवों पर परमकरुणा की थी, जिसका बदला चुका सकनेका कोई उपाय ही नहीं हो सकता है। यदि कुछ उपाय हो सकता है हमारे पूर्वज ऋषी संतोके ऋणको चुकानेका तो जो उनकी परम करुणामें आशय भरा हुआ था—ये जगत्‌के प्राणी ऐसे सुगम स्वाधीन निज तत्त्वको, निज महानिधिको भूले हैं, इसे ये पालें। यदि हम अपने उस ज्ञायकस्वरूपको पा लेते हैं और उसमें रम जाते हैं तो समझ लीजिए कि हमने उन ऋषी संतोंके उपकारका ऋण चुका पाया है और इसका कोई दूसरा उपाय नहीं है। कुछ भी अन्य उपाय करेंगे, चाहे देशना देकर, अध्ययन करा कर तन, मन, धन, वचनको व्यय करके समाजको सन्मार्ग बतायें, उनका उपकार करें, ऐसे उपाय करें तो उनमें भी अधूरापन रहेगा। आचार्यदेवकी इस उपकारशीलताका ऋण हम क्या न चुका पायेंगे।

परमार्थप्रतिक्रमणमें स्नात प्रभुका स्मरण— भैया! यह परमार्थ प्रतिक्रमणका अधिकार कैसे सार मर्मोंसे भरपूर है? उनकी प्रत्येक वाणी, उनके प्रत्येक वचन बड़े बड़े मर्मोंसे ओतप्रोत हैं। यह परमार्थ प्रतिक्रमण

निश्चयचारित्रका प्रतिपादन करने वाला है। यह परमार्थप्रतिक्रमण निश्चय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका संकेत करने वाला है। यह परमार्थ प्रतिक्रमण निश्चय रत्नत्रयके निशानेका अवलोकन करने वाला है। प्रतिक्रमण मायने निखार। कुछ चीज निखर जाती है तो वह अपने स्वरूपमें कितना कांतिमान् बनती है। शुद्ध निश्चयात्मक परमार्थचारित्रका संकेत करने वाला है यह परमार्थप्रतिक्रमण। ऐसे परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार को सुनते हुएमें, कहते हुएमें सर्वप्रथम एक बार कुछ बार परमार्थ प्रतिक्रमण के फलमें जो निर्दोष निखर चुके हैं उनका स्मरण कर लो। जैसे सेनाके साधारण सिपाहियोंके आदर्शरूप सेनापति महासुभटराज जैसे पुरुषों की जय बोलनेसे गुणानुवादसे सिपाहियोंमें एक अद्भुत साहस जगता है यों ही हम मोक्षमार्गके सिपाही जो कर्मशत्रुवोंका विध्वंस करनेका प्रोग्राम बनाए हुए हैं। हम साधारण सिपाहियोंमें बल तब प्रकट होगा जब हम इस मोक्षमार्गके प्रधान पुरुष गुरुजन और प्रभुकी आराधना करें, स्मृति करें तो हममें वह साहस प्रकट हो सकता है कि दोषोंकी शुद्धिके लिए हम परमार्थप्रतिक्रमण को परमार्थरूपसे कर सकें।

देशनाश्रवणका उद्यम— अपने उपयोगमें अपने उद्देश्यके मालिक उद्देश्यमें बढ़े हुए महापुरुषोंके स्मरण बिना हम अपनी चारित्रनिधिकी रक्षा नहीं कर सकते हैं। जो संयम और ज्ञानकी मूर्ति हैं, जो क्रोध, मान, माया, लोभ, कषायोंके दलन करनेमें विकट शूरवीर हैं, ऐसे गुरुजनों का स्मरण करके और इस मोक्षमार्गके फलरूप विशुद्ध सकलपरमात्मा और विकलपरमात्माका स्मरण करके अब जरा कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी देशनाको सुनिए। इस चारित्राधिकारमें सर्वप्रथम यह परमार्थप्रतिक्रमण है। इसमें ५ गाथाएँ आयी हैं। ये पांचों गाथाएँ मानो ५ रत्न ही हैं। उन में से अब सबसे पहिली गाथाका अवतार हो रहा है—

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेव पज्जाओ।
कत्ता ण हि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७७॥

चित्स्वरूपकी विविक्तता— मैं नारकभावरूप नहीं हूं; तिर्यञ्च पदार्थ नहीं हूं, मनुष्य और देवपर्याय नहीं हूं। इन रूप भी मैं नहीं हूं और इनका करने वाला मैं नहीं हूं, इनका कराने वाला भी नहीं हूं और इनको जो कोई कर रहे हों उनका अनुमोदने वाला भी नहीं हूं। ये बातें डर कर नहीं कही जा रही हैं किन्तु परमार्थस्वरूपकी रुचिके कारण कही जा रही हैं। यों न समझना कि जैसे स्कूलमें किसी लड़केसे कोई अपराध बन गया है तो वह मास्टर साहबसे कहता है मास्टर साहब! मुझे कुछ पता ही नहीं है,

मैंने कसूर नहीं किया है, न मुझे किसीने बहकाया है, न मैं इस घटनामें शामिल ही था— ऐसा डर कर नहीं कहा जा रहा है किन्तु परमार्थस्वरूप को निरखकर जो बात यथार्थ अनुभवमें उतरी है उस बातको ये ज्ञानीसंत निःशंक होकर प्रकट कर रहे हैं। मेरा स्वरूप तो वह है जो मेरे सत्त्वके कारण स्वतःसिद्ध हो। मैं नारक तिर्यञ्च, मनुष्य देव कहां हूं ? मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप चैतन्यमात्र अनुपम पदार्थ हूं।

परमार्थस्वरूपके अनुभवका उद्यम— भैया ! इस परमार्थस्वरूपके अनुभवके लिए कुछ समयको इन्द्रियोंको संयत करके परमविश्राम प्राप्त करें। सब इन्द्रियोंका काम बंद करदें, न आंखोंसे देखना है, न कानोंसे सुनना है। किसी भी इन्द्रियका काम न करके परमविश्राम सहित देहसे भी दूर भागकर, ज्ञानद्वारा देहसे भी दूर चलकर, बहुत भीतर चलकर निरखें तो विदित होगा कि यह मैं आत्मतत्त्व केवल ज्ञानमात्र हूं, इस देह से कितना दूर भागकर हम अपने अंतस्तत्त्वका पता पा सकेंगे ? बहुत दूर भागना पड़ेगा, अत्यन्त दूर चलना पड़ेगा और चलना भी कुछ नहीं पड़ेगा, केवल जरासा मुख मोड़ देना है। देहकी ओर जो आकर्षण बना है, यह देहमें है, इस प्रकारकी जो बुद्धि बनी है सो शुद्धविज्ञान करके यह बात समझ लेना कि देह तो मैं हूं ही नहीं. मैं इन रागद्वेषादिक विकारोंरूप भी नहीं हूं। मैं अपने अस्तित्वके कारण अपने स्वरूपसे अपने स्वभावमें जो कुछ अपने आप हूं मैं तो वह हूं। जो मैं हूं वह कभी विनष्ट नहीं होता, जो मैं हूं वह कभी छिन्न भिन्न नहीं होता। मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। मैं न नारकी हूं. न तिर्यञ्च हूं न मनुष्य हूं और न देव हूं।

परमार्थोपासकके परमार्थप्रतिक्रमणका अधिकार— कोई कहे कि इस समय तो नारक, तिर्यञ्च और देवका कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता, इस समय तो मेरा मनुष्य शरीर है। अच्छा तो यों कह लो कि न मैं नारकी था, न तिर्यञ्च था, न देव था. न मनुष्य था और न मैं मनुष्य हूं और न मैं कभी इन चारों देहोंरूप होऊंगा। मैं तो शुद्धचैतन्यस्वरूप मात्र हूं—ऐसा जिसने अपने आपके शुद्ध सनातन निज अंतस्तत्त्वका आकर्षण प्राप्त किया है वह ज्ञानी परमार्थप्रतिक्रमणका अधिकारी है। परमार्थप्रतिक्रमण बहुत महान् कार्य है। बहुत सावधानीसे इन ऋषी संतोंकी देनको हम आपको ग्रहण करना चाहिए।

मोहमें अप्रतिक्रमणका संसर्ग— यह संसारी प्राणी अनादि कालसे परम्परया ग्रहण किए चले आ रहे शरीरमें आत्मबुद्धि कर रहा है, यह मैं हूं। व्यवहारके अन्दर अनेक संकट इस ही देहात्म बुद्धिके आधार पर

निर्भर हैं। जब यह प्रतीति की कि यह मैं हूं तब इस देहके पोषक, देहके विरोधक, विषयोंके पोषक जीवोंमें पर्यायोंमें पदार्थोंमें इसे रिश्ता मानना पड़ेगा और जब किसी दूसरेसे स्नेह बस गया फिर तो संकटोंका जाल बिछ जाया करता है। दूसरे जीवोंसे मोह भरा स्नेह हो जाना, इससे बढ़ कर विपदा अन्य कुछ नहीं है। सकलविभावोंका मूल यही है कि दूसरे प्राणियोंमें स्नेह पहुंच जाना। इसके फलमें तो वह फँस चुका पूरा।

परपदार्थके स्नेहसे हानियां— परके प्रति स्नेह मोह रखनेमें दो हानियां हैं। एक तो किसी दूसरे जीवसे स्नेहका परिणाम किया कि अपने स्वरूप की उपासनासे उसे हाथ धोना पड़ा। दूसरी बात पराधीन होकर अपनी व्यग्रता बढ़ा ली गई। एक उपयोगमें दो बातें नहीं हो सकती हैं कि दूसरे जीवसे स्नेहके परिणाम भी किए जाएँ और अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूपका अनुभवरूप मोक्षमार्ग बनाया जाय। ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं। तब समझ लीजिए कि अन्य जीवसे स्नेह करनेके फलमें अपने आपकी कितनी बरबादी करनी पड़ी। अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ कल्पित घरमें बसे हुए स्त्री पुत्र आदिकके लिए ही रहें और वे ही सब कुछ हैं ऐसी मान्यता रहे, उनके लिए ही मेरा सर्वस्व श्रम है ऐसी वासना रहे, उनके अतिरिक्त अन्य जीवोंपर कुछ भी स्नेह न जगे अर्थात् उनके लिए तन, मन, धन वचनके उपयोगका कर्तव्य ही न समझा जाय ऐसी स्थितिमें यह जीव कितना महा अंधकारमें जा चुका है कि उसने अपने स्वरूपकी दृष्टि खो दी है। कितनी बड़ी हानि है दूसरे जीवसे स्नेह करनेमें? मोही प्राणीको यह काम लग रहा है बड़ा सुगम और सस्ता, साथ ही लग रहा है अपने आपको आराम देने वाला। कितनी आकुलता, कितनी बरबादी इसमें हो रही है? इस ओर ध्यान नहीं जाता।

सकल संकटोंका मूल देहात्मबुद्धि— सर्वसंकटोंका मूल है अपने देह में 'यह मैं हूं' ऐसी आत्मबुद्धि करनेका। हम चाहते तो हैं आनन्द, किन्तु आनन्द मिलनेकी जो पद्धति है उस पद्धतिके लिए एक मिनट भी दृढ़ न होना चाहें तो काम कैसे बनेगा? ऐसा निर्मल स्वच्छ उपयोग होना चाहिए कि यह बात उपयोगमें स्पष्ट झलकती रहे कि मेरा तो मात्र मैं हूं, यह देह तक भी मेरा नहीं है, फिर स्त्री पुत्र आदिक की तो चर्चा ही क्या करें? ऐसी स्पष्ट झलक आ सके तो सच जानो कि आज आपने कुछ अर्जन किया अन्यथा तो वही ढर्रा चला जो अनादिसे चला आया है, उससे कोई लाभ न होगा। यह चल रहा है परमार्थप्रतिक्रमण अर्थात् जो कुछ धब्बे शेष रह गये हों उन सबको धो धाकर खत्म करें। इस कार्यका

यह अधिकार चल रहा है, इसका नाम है परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार।

दोषमय समारोह व कल्याणमय महोत्सव— मोही पुरुष दोषोंके लादनेमें महोत्सव मानता है। अब मुन्ना बड़ा हो गया, अब इसकी शादी हो रही है, बाजे बज रहे हैं, बड़ा तमाशा कर रहे हैं। काहेका है यह महोत्सव? दोषोंके लादनेका यह महोत्सव हो रहा है। अब शादी हो रही है। बड़ी खुशियां मनायी जा रही हैं। देखो शादीका अर्थ है खुशी मनाना। शादीका अर्थ विवाह नहीं है। मगर शादीका नाम लेनेसे एक दम विवाह अर्थ हो जाता है। शादीका अर्थ खुशी है, यह नाशाद है अर्थात् दुःखी है। इसकी शादी हो रही है अर्थात् इसकी खुशी हो रही है। पर खुशीका अर्थ प्रचलित नहीं है, शादीका अर्थ चारित्रग्रहण प्रचलित है। यह काहेका समारोह है? यह समारोह है दोषोंके लादनेका। महोत्सव मायने दोषोंका साफ करना, दूर करना, यही है परमार्थप्रतिक्रमण, इससे बढ़कर क्या और खुशीकी बात होगी कि मेरे आत्मामें जो अनादि कालसे ऐब लगे चले आ रहे थे उनको जो बिलकुल साफ करदे, आगे अनन्त भविष्य कालके लिए संकटोंसे मुक्ति पा ले, इससे बढ़कर है भी कुछ?

सच्चे सलाहगीरोंकी विरलता— भैया! दुनियां की ओर दृष्टि न दो, यह जगत मोहियोंकी संख्यासे भरा हुआ है। यहांसे बाहर कदम दिया कि प्रायः शतप्रतिशत लोग मोही-मोही ही नजर आयेंगे। जिनमें अपनी पोजीशन चाही जा रही है वे सब प्रायः मोहियोंकी मण्डलीके सदस्य हैं। वहां हितकी क्या आशा कर सकते हैं? अरे सलाह तो किसी दूसरे भी व्यक्तिसे मत लो। आपही अपने ज्ञानको सलाह लेने वाला बना लो और ज्ञानके स्रोतको अपना परममित्र बनालो, जिससे सलाह लेते रहो। यहां कौन दूसरा है ऐसा कि जिसकी सलाहसे हम अपना नियमसे कल्याण कर ही लें? हां व्यवहारमें ऐसे लोग कोई हो सकते हैं कि जिनसे सलाह लेना संकटमुक्तिके लिए आवश्यक है, वे हैं सम्यग्दृष्टिजन, किन्तु ऐसे पुरुष तो विरले हैं क्वचित् कदाचित् मिलते हैं।

निज ज्ञानबलकी पूँजीका प्रताप— भैया! क्वचित् कदाचित् ज्ञानी संत मिल भी जायें तो भी नफेका काम तब तक नहीं बन सकता जब तक खुदकी गांठमें यह ज्ञानसम्पत्ति न हो। निराट गरीबसे तो कोई धनी बात ही नहीं करता है। यों ही कोई निराट अज्ञानी मोहीसे कोई सम्यग्दृष्टिकी बात ही नहीं हो सकती है। खुदमें यदि ज्ञान सम्पत्ति है, तो उसका बल सच्चा है और नहीं है तो ये संसारके झंझट यहां तो चलते ही हैं। अनुभव करो, स्नेहमें मत बह जावो, दूसरे लोग कितना ही प्रिय बोलने

वाले हों, कितनी ही सब तरहकी सेवाएँ करने वाले हों, पर आत्मकल्याण के मंच पर बैठकर तुम उन सब रिश्तोंको एक साथ समाप्त कर दो। जब आत्मकल्याणके मंचसे नीचे उतर कर व्यवहारमें लगे तो उनसे व्यवहार करलो, जिसमें अच्छा वातावरण रहे, गुजारा चले। फिर भी यह तथ्य न भूल जाइये कि रात दिवसमें जिस भी २ मिनट आत्मध्यान करना चाहते हैं, आत्महितके कृत्य करना चाहते हैं उस कालमें तो इस सब जीवों से रिश्ता मूलतः काटना पड़ेगा अन्यथा कुछ भी नहीं कर सकते। न यहांके रहे, न वहांके रहे, यह स्थिति होगी। इस पदवीमें रात दिन यह करें यह नहीं कहा जा रहा है, किन्तु जिन दो मिनटोंमें आपको यथार्थ धर्म करना है वहां यह करना होगा, दूसरा उपाय नहीं है, मैं देह नहीं हूं। मैं एक चैतन्यतत्त्व हूं, ऐसी अपने आपके स्वरूपकी भावना बनानी होगी!

आत्मध्यानके अनंतर संभावित स्नेहका विषय सकल जीवलोक— इस परमार्थचैतन्य प्रतपनरूप तपस्याके अनन्तर यदि आपका स्नेह जग रहा है तो एक बार सब जीवोंको भावपूर्ण हृदयसे लगाकर स्नेह करो पश्चात् कुटुम्बके स्नेहका तो नम्बर आयेगा ही। ऐसे परमयज्ञमें रहने वाले हम आप किसी पुरुषके धर्मप्रभावना जग रही हो, अपने आपका ज्ञानमात्र चिंतन कर रहे हों, देहसे भी न्यारा ज्ञानस्वरूप मात्र निरख रहे हों और इस कार्यके बाद एकदम कुटुम्बकी खबर आती हो तो समझो कि यह मोह चोर उस समय भी पड़ा हुआ था जिस समय हम धर्मका कुछ काम कर रहे थे और कदाचित् इस परमधर्मकी उपासनाका आनन्द प्राप्त करनेके बाद कुछ बाहर निकले और यदि स्नेहकी मात्रा आये तो उस समयमें सब जीवोंको भावरूपसे अपने हृदयसे लगा सकें, तब समझो कि हमने उस समय इस धर्मका पालन भले रूपमें किया।

दोषशोधन— इस प्रसंगमें अपने ऐबोंको भावनाके साबुनसे ज्ञानके जलसे धोया जा रहा है, यह अत्यन्त स्वच्छ ज्ञानमात्र इसका स्वरूप परिज्ञात हो इसके लिए उद्यम किया जा रहा है। भली बात करनेमें कितना कठिन हो रहा है और बादकी बात कितनी सुगम लग रही है। यह मोह का कितना विचित्र खेल है? मैं देह भी नहीं हूं, मैं मनुष्य भी नहीं हूं, मैं तो ज्ञानस्वरूप मात्र एक तत्त्व हूं। यों यह प्रतिक्रामक अन्तरात्मा ज्ञानी संत कितना अधिक अंतस्तत्त्वका रुचिया बना चला जा रहा है? इतना अनुपम ज्ञानबल बनाये बिना काम क्रोधादिक विषयकषायोंके शत्रुओंको जीतना कठिन है।

कर्तृत्वविषयक जिज्ञासा समाधान— एक जिज्ञासा— मैं इन देहों

रूप, इन पर्यायोंरूप नहीं हूं, ठीक है, पर इन देहोंका करने वाला तो हूं मैं, मेरी करतूत से ही तो ये देह उत्पन्न होते हैं। आचार्यदेव इसके समाधानमें यह कह रहे हैं कि मैं इस देहका, व्यंजनपर्यायका कर्ता नहीं हूं। हे जिज्ञासु पुरुष! तुम्हें यद्यपि ऐसा लग रहा है कि मैं विभाव न करूँ तो ये देह कहांसे आयें, मेरी ही कलाके कारण ये देह उत्पन्न होते हैं पर इस समस्याका हल तू इन दो परिज्ञानोंके बलसे कर ले पहिला परिज्ञान तो यह है कि मैं आत्मा केवल अपने भावोंका ही कर्ता हूं। विभावोंको करनेके समयमें पौद्गलिक कर्मोंका बंधन हो जाय तो हो जाय, पर उस कर्मबंधन का कर्ता तो मैं हूं ही नहीं। मैं तो अपनी टेक रख सकता हूं। दूसरेमें क्या करतब कर सकता हूं और इसी प्रकार मैं अपने परिणाम भरका करने वाला हो सकता हूं, जड़ पौद्गलिक आहारवर्गणावोंके पुञ्जरूप इस देहमें मैं क्या दखल कर सकता हूं? यह होता है तो होने पर इसका करने वाला मैं नहीं हूं, यह तो है पहिला परिज्ञान। दूसरा परिज्ञान यह है कि हे आत्मन्! जरा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको तो देखो कि हूं कैसा मैं। तू तो अकर्ता अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत चित्स्वरूप मात्र है, उसको निरख। यह तू तो रागद्वेषका भी कर्ता नहीं है, मोहादिक विभावों का भी कर्ता नहीं है। ऐसा तू अकर्ता है। अब ध्यानमें आया कि मैं इस पर्यायका कर्ता भी नहीं हूं। यों मै व्यञ्जनपर्याय रूप नहीं हूं और व्यञ्जन पर्यायका कर्ता भी नहीं हूं, ऐसे इन दो तत्त्वोंका इसमें वर्णन किया गया है।

परमार्थतः कर्तृताका अभाव— इस प्रसंगमें निज सहज सत्वस्वरूप पर दृष्टि दिलायी जा रही है और उस दृष्टिमें यह परिज्ञान कराया जा रहा है कि मैं इस स्वरूपमात्र हूं, मैं किसी पदार्थका कर्ता नहीं हूं। करना शब्द व्यवहारका शब्द है। वैसे आप कितने ही भाषण करते जायें और निबंध भी लिखते जायें तथा यदि यह चाहें कि मैं अपने भाषणमें अथवा निबंधमें करने शब्दका प्रयोग ही न करूँ तो आप घंटों बोलते जायें और करना शब्दका प्रयोग नहीं हो सके ऐसा हो सकता है। आप बड़ी पुस्तक लिखें, बोलें और उसमें करना शब्द कहीं भी न लायें तो लिखा जा सकता है परंतु भावप्रक्रियाकी धातु लिखे बिना काम नहीं चलता है।

सकर्मकोंके अकर्मक प्रयोगमें कुछ उदाहरण— अब मैं भोजन करूँगा इसको यों बोल लो, अब मेरा भोजन होगा। करूँगा शब्द बोलनेमें कर्तृत्व भाव आया, अहंकार भाव आया, व्यग्रताका भाव आया, धीरता गायब हो गयी। क्षोभकी मुद्रा आ गयी। कितना भी आप बोलते जाइये, पर

सकर्मक वाक्यका या कर्तृवाच्यका प्रयोग न करें तो भी काम चल जायेगा। अभी तो सिर्फ करने भरकी बात कही जा रही है, आप सकर्मक धातु ही न बोलें तो भी काम चल सकता है। मैं मंदिर जाऊँगा, यह सकर्मक प्रयोग हो गया। अब मेरा मंदिर जाना होगा, यह अकर्मक प्रयोग हो गया। अब मैं शिष्योंको पढ़ाऊँगा, यह सकर्मक प्रयोग हो गया। अब मुझसे शिष्यजन पढ़ेंगे, यह अकर्मक प्रयोग हो गया। या शिष्यजन मेरा आश्रय पाकर, निमित्त पाकर या मुझपर दृष्टि रखकर अध्ययन करेंगे। सकर्मक प्रयोगकी अपेक्षा अकर्मक वाक्योंके प्रयोगमें बहुत नम्रता भरी होती है।

ज्ञानियोंके वचन प्रयोग— भैया! मेरे ख्यालसे ज्ञानी पुरुषोंकी उनकी भाषामें सकर्मक वाक्योंका बहुत कम प्रयोग होता है। किन्ने ही वक्ता तो छाती ठोककर भी कहते हैं कि मैंने यह किया, मैं वहां गया, मैं का प्रयोग करके अपनी शानसे भरा भाषण बना देते हैं, पर मेरे ख्यालसे ज्ञानी संतोंकी भाषामें अकर्मक वाक्योंका प्रयोग बहुत होता है। कदाचित् ही सकर्मक भाषाका प्रयोग वे करते हैं। भरमार नहीं होना चाहिए सकर्मक वाक्योंका।

निर्दोषीकरणका पुरुषार्थ— इस प्रकरणमें एक बहुत बड़ी पुरुषार्थ सम्बन्धी बात की जा रही है। मैं अपने आपको ऐसा शुद्ध स्वच्छ रूप परिणत करूँ कि मुझमें एक भी विकारका धब्बा न रह सके, उसकी तैयारी की जाती है और इस तैयारीमें सर्वप्रथम सीधा यों कहना पड़ेगा कि मैं नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव किसी भी पर्यायरूप नहीं हूं। जो अपने को कुछ बनायेगा उसे आकुलता मचेगी। जो अपनेको कुछ बनाना नहीं चाहता उसे आकुलता नहीं होती। मैं नारकपर्याय नहीं हूं और नारकभाव भी नहीं हूं, अर्थात् जिन परिणामोंके कारण नारकपर्याय मिलती है, बहुत आरम्भ परिग्रह रखनेका परिणाम रखना, इन भावोंरूप भी मैं नहीं हूं। जैसे जरासी आंख मींचने और आंख खोलनेमें हमारी दो दुनिया बन जाती हैं, आंख मींचकर बैठे तो कुछ दूसरी प्रकारकी दुनिया दीखती है, आंख खोलकर चले तो कुछ दूसरे प्रकारकी दुनिया दीखती है। ऐसे ही अपनी ओर मुड़े तो परमार्थलोक दीखता है और बाह्यकी ओर मुड़े तो वहां यह सारा मायामय लोक दीखता है।

सर्वविशुद्धदृष्टि— मैं तो शुद्ध जीवास्तिकायरूप हूं। परमार्थदृष्टिसे देखा जाय, सहज शुद्ध स्वभावकी दृष्टि करके निरखा जाय तो मैं शुद्ध जीव पदार्थ हूं। इस मुझ जीवमें नारकादिक पर्याय नहीं हैं। यह प्रकरण

बहुत सावधानी से जानने और सुनने लायक है। थोड़ा दृष्टिसे चिगे कि यह दिखने लगेगा कि यह कितना अशुद्ध बोला जा रहा है कि मैं मनुष्य नहीं हूं। मनुष्य है, यहां बैठे हैं, अभी खायेंगे पियेंगे, व्यवहार करते हैं और कह रहे हैं कि मैं मनुष्य नहीं हूं और इसीमें अपने बड़े उत्कृष्ट ज्ञान का गौरव कर रहे हैं। सच तो यह है कि ज्ञानीकी कलाको अज्ञानी माप नहीं सकता। किसी अज्ञानीको ज्ञानीके अन्तरके मर्मको समझना हो तो उसे अपनी अवस्था छोड़कर ज्ञानीकी स्थितिमें आना चाहिए तो ज्ञानियोंके आंतरिक मर्मको पहिचान सकता है। नहीं तो उपादान तो है अज्ञान भरा और करेगा ज्ञानियोंकी करतूतकी नकलका तो उसमें विडम्बना ही रहेगी।

ज्ञानियोंकी कलाकी अज्ञानियोंके अगोचरता— जैसे कुछ लोग कुत्ते के छोटे-छोटे बच्चोंको खिलाते हैं, वे बच्चे लात मारें, कभी मुख भी जड़ जाते हैं और ये उन पिल्लोंको अपनी छाती से लगाकर खिलाते हैं। कोई गधा यह देखे कि ये पिल्ले इसलिए इसके प्रिय बन रहे हैं कि इस मनुष्यको ये लात मारते और दांतोंसे चबाते हैं, सो अपन भी लातें मारें और दांतोंसे चबायें तो यह प्यार करेगा। वह यदि ऐसा ही करने लगे तो उसे प्यारकी जगह पर डंडे ही मिलेंगे। यों ही किसीका उपादान तो है अज्ञानभरा और करने लगे ज्ञानियोंकी क्रियावों की नकल, अन्तरमें मर्म कुछ भरा नहीं तो कैसी विडम्बना होगी सो वही जानेगा और कुछ-कुछ दूसरे भी समझ सकते हैं। घर छोड़ा, परिग्रह छोड़ा, केवल शरीर मात्र ही रह गया, फिर भी चैन नहीं पड़ती, आकुलता मच रही है। यह सब क्या हो रहा है? उपादान तो अज्ञानमय बना हुआ है और क्रियाएँ ज्ञानियोंकी कर रहे हैं।

आत्माकी विशुद्ध स्वरूप चतुष्टयात्मकता— भैया! सर्वप्रथम अपने आपके यथार्थस्वरूपको तो पहिचान लो। जिसके परिचयके प्रताप से सहज कला प्रकट होती है, और यह शांतिकी सिद्धिमें अवगाह करके संसारके सारे संतापोंको समाप्त कर देता है। मैं शुद्ध जीवास्तिकायरूप हूं, मैं शुद्ध जीव पदार्थ हूं, मैं शुद्ध जीवद्रव्य हूं, मैं शुद्ध जीवतत्त्व हूं। पिण्डात्मक दृष्टिसे देखा, गुणपर्यायवान् पदार्थके लक्षणसे देखा तो यह मैं अपने गुणपर्यायरूप हूं। इससे भी कुछ और गहरी दृष्टि लेकर चलें तो मैं सहज ज्ञानादिक गुणस्वरूप हूं और मेरा जो सहज परिणमन है, अर्थ-परिणमन है, अगुरुलघुत्व गुणके निमित्तसे होने वाले धर्मादिक द्रव्योंकी तरह जो स्वभावपरिणमन है, तन्मात्र मैं हूं। यूँ जो शुद्ध जीव पदार्थको निरख रहा है उसके ज्ञानकी यह बात है कि मैं नारक पर्याय नहीं हूं, मैं

किसी पर्यायरूप नहीं हूं, उन पर्यायोंके भेदरूप नहीं हूं, ये सब व्यवहारसे बाह्यदृष्टिके प्रतापसे निमित्तनैमित्तिक भावसे होने वाली मायाएं हैं। जब मैं अपने प्रदेशकी दृष्टिसे अपनेको निहारने चला तो वहां देखा कि मैं शुद्ध जीवास्तिकाय हूं। इस क्षेत्रमें अन्य कुछ भी विकार नहीं है। जब उस परिणमनकी निगाह लेकर देखने चला तो मेरे ही स्वरूपमें मेरे ही कारण मेरेमें जो अर्थपरिणमन है वह भी एक अर्थपरिणमनोंका आधारभूत सामान्य परिणमन मात्र हुआ, ऐसा यह मैं शुद्ध जीवद्रव्य हूं। जब मैं भावदृष्टिसे अपनेको निहारने चला तो केवल ज्ञानानन्दभावरूप मैं हूं, अन्य कुछ मैं नहीं हूं। ऐसा मैं शुद्ध जीवतत्त्व हूं।

विभावविविक्तता— इस जीवके उन नारक आदिक आश्रवोंके कारणभूत रागद्वेष मोह व्यवहारसे हैं, परमार्थसे नहीं हैं, अर्थात् मेरे स्वरूपसे रचे हुए वे भाव नहीं हैं। स्वरूपमें रचे हुए भाव वे हैं जो अनादि अनन्त अहेतुक नित्य प्रकाशमान् हैं। यों ही समझ लीजिए कि मैं तिर्यञ्च व्यञ्जन पर्याय नहीं हूं और तिर्यञ्च भावरूप भी नहीं हूं। तिर्यञ्चपर्यायके योग्य जो मायासे मिला हुआ अशुभ कर्म होता है अशुभ भाव होता है वह मेरे स्वरूपमें नहीं है। सो न मैं तिर्यञ्चभावरूप हूं और न तिर्यञ्च पर्यायरूप हूं। ऐसा ही जानिए कि मनुष्य आयुके योग्य जो परिणाम हैं उन परिणामोंरूप भी मैं नहीं हूं और मनुष्यपर्यायरूप भी मैं नहीं हूं।

ज्ञानीका अगाध गमन— यह ज्ञानी अपने आपमें कितना गहरा उतर गया है कि जैसे समुद्रके किनारे पर बैठे हुए पुरुषको बहुत नीचे मग्न होने वाले मनुष्यका क्या पता है, ऐसे ही इस तत्त्वसमुद्रके किनारे पर बैठे हुए बातूनी पुरुषको इस तत्त्वसमुद्रकी गहराईमें मग्न हुए ज्ञानीकी करतूतका क्या पता है ? मैं मनुष्यपर्यायरूप भी नहीं हूं, इसी प्रकार देव पर्यायरूप नहीं हूं, देवपर्यायमें होने वाले सरस सुगंध पुद्गलद्रव्य शरीर स्कंध ये भी मेरे स्वरूपमें नहीं हैं और जिन भावोंका निमित्त पाकर ऐसी देव अवस्था मिलती है मैं उन भावों रूप भी नहीं हूं। यह मैं सर्वव्यञ्जन पर्यायोंसे परे शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र हूं। मैं उन रूपों नहीं हूं और उन रूपोंका कर्ता भी नहीं हूं। मैं सदा अपनी ही रचनावोंको किया करता हूं। मैं पुद्गलकी रचनावों रूप नहीं परिणम सकता।

कारयितृत्वविषयक शंका— इस तरह यहां तक ये दो बातें बतायी गई हैं कि मैं इन व्यञ्जन पर्यायोंरूप नहीं हूं, देहोंरूप, शरीररूप नहीं हूं और शरीरका कर्ता भी नहीं हूं। अब यह बतला रहे हैं कि मैं इन शरीरोंका कराने वाला भी नहीं हूं, पहिली दो बातोंको सुनकर किसीके चित्तमें

यह आ सकता है कि मैं इन पर्यायोंरूप नहीं हूं, यह भी समझमें आ गया क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप हूं और यह शरीर जड़ है, अचेतन है, यह भी समझमें आ गया कि मैं जिस रूप बनूंगा सो अपने ही रूप बनूंगा। किसी अचेतन पर शरीरके रूपमें नहीं बन सकता हूं--यह भी ध्यानमें आ गया। पर कुछ यह जरा कम ध्यानमें आता कि मैं इन शरीरोंका कराने वाला भी नहीं हूं। कैसे नहीं हूं? मैं कराता हूं तब ये शरीर बनते हैं। मैं परिणाम करता हूं, मैं प्रेरणा करता हूं और जैसे बना करते हैं उस रूपमें प्रयोग किया करता हूं। तब मैं कराने वाला तो होऊंगा।

कारयितृत्वविषयक समाधान— आचार्यदेव समाधान करते हैं कि तू इन पर्यायोंका कराने वाला भी नहीं है। किसे कराना कहते हैं? कार्य प्रयोजकताको कराना कहते हैं। कार्यप्रयोजकत्वं हि कारकत्वं। जिस कार्यका प्रयोजन जिसे मिलता है, जिस कार्यका फल जो पायेगा, जो पाना चाहता है उसे कहते हैं कराने वाला। जैसे कोई कहता है कि मैं कुवां-साफ करा रहा हूं, उसमें भाव यह भरा हुआ है कि कुए को साफ करने वाले तो मजदूर हैं पर कुवोंके साफ हो जानेसे उसका प्रयोजन मुझे मिलेगा क्या? दुनियामें मेरा नाम होगा? सब लोग मेरा यश गायेंगे कि इन्होंने कुवा साफ कराकर लोगोंका बड़ा उपकार किया है। हम भी उसमें पानी पियेंगे। तो जिसे किये जाने वाले कार्यका प्रयोजन मिले उसे कराने वाला कहते हैं। प्रयोजन बिना तो कोई कुछ कराता भी नहीं। चर्चा बड़ी सावधानीसे सुननेकी है। अब जरा यह देखो कि मैं अपनेको जिसका भी कराने वाला मानता हूं क्या उस कार्यका प्रयोजन हमें मिलता है? इसका निर्णय करिये।

कार्यप्रयोजकत्वका निर्णय— जिस कार्यमें जो परिणमन होता है उस कार्यका प्रयोजन उस पदार्थको मिलता है जिस पदार्थमें परिणमन हो रहा है। 'मैं ईंधनको जला रहा हूं' इन शब्दोंमें देखिये, काम क्या हो रहा है? ईंधन जलानेका। उस ईंधनके जलानेका प्रयोजन किसे मिला? उन्हीं स्कंधोंको, अर्थात् जलकरके वे क्या हुए और इस तरहका मिला प्रयोजन किसे? उन्हीं स्कंधोंको मिलता है उसका प्रयोजन, हमको नहीं मिलता है। कल्पना करके हम चाहे देशके राजा अपनेको कहलवाने लगें तो उसकी क्या कीमत है? यों तो खेल-खेलमें बच्चे लोग भी बादशाह बन जाते हैं, कोतवाल बन जाते हैं, न्याय किया करते हैं। तो कल्पनामें कुछ भी मान लें किन्तु वास्तविक बात यह है कि किसी भी कार्यका प्रयोजन मुझे नहीं मिलता, किन्तु जिस पदार्थमें परिणमन हो रहा है उसे प्रयोजन मिलता है।

कार्यप्रयोजकत्वका प्रायोजनिक विवरण— अच्छा जरा बतावो कि मैं जब किसी प्रकारका राग कर रहा हूं तो उसका प्रयोजन किसे मिलेगा ? मुझे। उसका फल किसे मिलेगा ? मुझे प्रयोजन अर्थात् फल क्या मिलेगा कि आकुलित होते रहेंगे। ठीक, यह चौकी बन गयी, यह चौकी मिट गयी, यह चौकी जल गयी ये सब काम हो रहे हैं, इसका प्रयोजन किसे मिलेगा ? उन ही पुद्गल स्कंधोंको। क्या प्रयोजन मिला ? यह मिला कि उनकी सत्ता बनी रही। ये पदार्थ यदि परिणमें नहीं तो उनकी सत्ता कायम न रहेगी। इस कारण इन अचेतनके नाना प्रकारके परिणमनोंका प्रयोजन यह है कि वे अपने सत्त्वसे त्रिकाल बने रहते हैं, इसके आगे उस कार्यका कोई प्रयोजन नहीं है। अब समझ लीजिए कि मैं शरीरोंका कराने वाला हूं क्या ? नहीं हूं। न मैं कर्ता हूं और न मैं कराने वाला हूं। मैं तो शुद्ध चित्प्रकाशमात्र हूं ऐसी स्वभावदृष्टि रखने वाले साधु संत परमार्थ प्रतिक्रमण किया करते हैं।

कारयितृत्वका निर्णय— कार्यका प्रयोजन जिसे मिले उसे कराने वाला कहते हैं। जैसे लोकव्यवहारमें कहते हैं कि मालिकने नौकरसे काम कराया तो उस कामका फल किसे मिलेगा ? जिसे मिले उसीको कराने वाला कहते हैं। अब यहां परमार्थदृष्टिसे निर्णय कीजिये और सर्व प्रथम स्व में ही निरखिये कि किसी भी पदार्थके परिणमनका फल क्या मुझे मिलता है ? चूँकि एक पदार्थका परिणमन किसी अन्य पदार्थमें आ नहीं सकता है इस कारण किसी भी पदार्थके परिणमन का फल वस्तुतः अन्यको नहीं मिलता है। जो परिणम रहा है उसके परिणमनका फल उसीको मिलता है। परमार्थ दृष्टिसे निरखते जाइए कि किसी भी पदार्थके परिणमनका फल क्या-क्या मिलता जा रहा है ? मूल फल तो यह है कि पदार्थ के परिणमनका फल पदार्थका सत्त्व बना रहना है। न हो परिणमन तो सत्त्व नहीं रह सकता है इसलिए एक ही उत्तर लेते जाइये समस्त पदार्थों में। वही उत्तर मूल उत्तर स्वयंमें घटित कर लीजियेगा।

अमूर्त अजीव द्रव्योंका कार्यप्रयोजकत्व— धर्मद्रव्य क्यों परिणम रहा है ? अपना सत्त्व रखनेके लिए परिणम रहा है। अधर्म द्रव्य क्यों परिणम रहा है ? वह भी अपना सत्त्व रखनेके लिए परिणम रहा है। इसी प्रकार आकाशद्रव्य और कालद्रव्य क्यों परिणम रहे हैं ? ये भी अपना-अपना सत्त्व रखनेके लिए परिणम रहे हैं। वैसे यह भी कहा जा सकता है कि कालद्रव्य अन्य द्रव्योंका परिणमन करनेके लिए परिणम रहा है, तो यों निमित्त दृष्टिका जो उत्तर है वह औपचारिक उत्तर है, पारमार्थिक नहीं

है और ऐसा उत्तर प्रत्येक द्रव्यमें लगाया जा सकता है क्योंकि प्रत्येकद्रव्य अन्य द्रव्योंकी किसी न किसी बातमें निमित्त हुआ करता है। तो ये चारों द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल अपना-अपना अस्तित्व रखनेके लिए परिणाम रहे हैं।

पुद्गल पदार्थका कार्यप्रयोजकत्व-- अब पुद्गलके सम्बन्धमें निरखिये। कोई भी पुद्गल स्कंध किसलिए परिणाम रहा है? लोग कह बैठेंगे कि यह कुर्सी हमारे बैठनेके लिए बन रही है। जरा कुर्सीके हृदय होवे तो उससे पूछो कि तुम किस लिए बन रही हो? तो वह क्या जवाब देती है? वह तो अपना अस्तित्व रखने के लिए परिणाम रही है। किसी भी प्रकार परिणमें, पुद्गलको अपने परिणमनमें हठ नहीं है। इस बेईमान जीवको ही हठ लगी है नाना प्रकारके परिणमनमें, पर इस पुद्गलको किसी भी प्रकारके परिणमनकी हठ नहीं पड़ी हुई है। मैं तो कुर्सी ही बनूंगा, ऐसा पुद्गल स्कंधोंमें हठ नहीं है। कुछ भी परिणमो, जरा और भी देखते जावो, कुर्सी जल गयी तो यह खाक बन गयी, तो यह खाकरूप किस लिए बन गयी? क्या उत्तर होगा? मैं दूसरेके बर्तन मांजनेके लिए खाक बन गयी, यह उत्तर होगा क्या? अरे वह खाक भी बनी है तो अपना अस्तित्व रखने के लिए। पदार्थमें क्यों परिणमन हो रहा है? यह तो पदार्थके अस्तित्व का सहयोग मात्र है।

जीवद्रव्यका कार्यप्रयोजकत्व— अब जरा जीवद्रव्य पर आइए, जीव द्रव्यका कुछ भी परिणमन होता है वह किस लिए हो रहा है, पूछिये किसी जीवसे। क्यों भाई! तुम रागरूप परिणाम रहे हो, किस लिए परिणाम रहे हो? मूल उत्तर तो यह है कि हम अपना अस्तित्व रखनेके लिए परिणाम रहे हैं। तुम अपना अस्तित्व रखनेके लिए रागरूप परिणाम रहे हो। यहां राग रूपकी बात नहीं कह रहे हैं। जो भी परिणमन होगा वह किसी न किसी विशेष रूप होगा, उससे हमें मतलब नहीं है। यह जीव उत्तर दे रहा है अपने सही होशके साथ। निमित्तके सद्भावमें विकाररूप विशेष होगा, निमित्तके अभावमें सामान्यरूप विशेष होगा। विशेष परिणमन तो चलेगा पर हमें विशेषसे मतलब नहीं। हमें तो परिणमन मात्रसे प्रयोजन है क्योंकि मैं द्रव्य हूं, मैं जो कुछ भी परिणमता हूं अपना अस्तित्व रखने के लिए परिणमता हूं।

विकारी जीवका कार्यप्रयोजकत्व-- अब मूलसे और ऊपर उठकर अन्य उत्तर सुनिये। ऐ आत्मन! तुम किसलिए यह राग कर रहे हो? उत्तर यह होगा कि मैं अपनी आकुलता मिटानेके लिए राग कर रहा हूं,

मिटे अथवा न मिटे। इसकी बात नहीं कहते हैं, किन्तु राग करने वालेका अन्यमें क्या प्रयोजन रहता है ? सबकी चेष्टाका यही प्रयोजन है कि अपनी आकुलता मिटा लें, पर हो क्या रही है ? आकुलता। तो तीसरा उत्तर यह है कि मैं आकुलित होने के लिए, भोंदू बने रहने के लिए राग कर रहा हूं। चलो कुछ हर्ज नहीं। अब तक इस जीवने स्वरूपकी लाज तो रक्खी। अपना ही परिणमन तो फलमें बताया। अभी तक दूसरेका नाम नहीं लिया इसने।

व्यामोही जीवका कार्यप्रयोजकत्वके सम्बन्धमें व्यामोहपूर्ण उत्तर— अब इसके आगे जो चौथा उत्तर होगा वह बेवकूफीसे भरा हुआ होगा। अरे आत्मन्! तुम किस लिए यह राग कर रहे हो ? किस लिए यह तुम २०० रु० की साड़ी ले आये हो ? स्त्रीको खुश करने के लिए। अब यह आ गया मूढ़ता भरा उत्तर। अरे वह परद्रव्य है, परद्रव्योंमें तुम क्या कर दोगे ? उस साड़ीमें अगर एक भी धागा दूसरे रंगका लगा हुआ दिख जायेगा तो वह स्त्री साड़ीको फेंक देगी और गाली सुनायेगी। तुम दूसरे को प्रसन्न करने के लिए यत्न कर रहे हो ? या कुछ भी हो। कोई जीव अपने परिणमनका फल दूसरे जीवोंमें नहीं ला सकता है, तब कोई किसी अन्यका कराने वाला हुआ क्या ? यह मैं आत्मा किसी भी परद्रव्यका कराने वाला भी नहीं हूं।

जिज्ञासुका समाधान और एक अन्तिम जिज्ञासा— यहां तक इस परमार्थ प्रतिक्रमणके अधिकारमें अपनी-अपनी भूलसे लगे हुए कलंकोंको साफ करनेके पुरुषार्थमें तीन बातें कही गयी हैं। मैं किसी नर नारकादिक पर्यायरूप नहीं हूं। मैं उनका करने वाला नहीं हूं और मैं उनका कराने वाला भी नहीं हूं। खास खास मोटी-मोटी बातें निकल रही हैं। सबसे मोटी बात पहिली थी, उससे कुछ कमजोर मोटी बात दूसरी थी, उससे कुछ कमजोर मोटी बात तीसरी थी, अब आखिरी बात यह जिज्ञासु पुरुष रख रहा है कि महाराज न सही मैं पर्यायरूप, न सही मैं उनका कर्ता, न सही मैं उनका कराने वाला किन्तु उनका जो कुछ भी करने वाला हो चाहे वही सही, पुद्गलका पुद्गलका पुद्गल ही करने वाला सही, पर करते हुए उनका अनुमोदन करने वाला तो मैं हूं। कितना कठिन तर्क रक्खा जा रहा है ? अरे मैं शरीरका मोटापा देने वाला नहीं हूं, उस पर हमारा क्या वश है ? मोटा हो जाय तो हो जाय, दुर्बल हो जाय तो हो जाय, पर जब यह शरीर तकड़ा हो रहा है, मोटा हो रहा है, इसका करने वाला या कराने वाला नहीं हूं तो अनुमोदना करने वाला तो हूं, तारीफ करने

वाला तो हूं, समर्थन करने वाला तो हूं ना ?

जिज्ञासुकी अन्तिम जिज्ञासाका समाधान— आचार्य देव उत्तर देते हैं कि तुम करने वाले की अनुमोदना करने वाल भी नहीं हो। कुछ भी हो परपदार्थमें परिणमन, होता है वहां वह उसका ही परिणमन है और इस प्रसंगमें कुछ भी होता हो तुम्हारा अनुमोदना वह परिणमन तुम्हारा ही परिणमन है, तो तारीफ करनेका जो भाव बना, उसमें अनुमोदन समर्थन हर्ष करनेका जो परिणाम बना इसमें भी हर्ष परिणमन तुम्हारा ही तो ईप्सिततम है। वह परिणमन तुम्हारे ही प्रदेशमें हुआ। उस परिणमनके आश्रय तुम ही हो। वह परिणमन तुममें ही एक रस बन करके हुआ है। तुम वहां अपने ही भावमें अपना ही अनुमोदन करने वाले हो रहे हो। तुम परमें क्या अनुमोदन कर सकते हो ? तुम करने वालेके अनुमोदक भी नहीं हो।

संकटमुक्तिका उपाय संकटसाधनोंकी निवृत्ति— यह बहुत ऊँचे कल्याण प्रासादकी बात चल रही है। मुझे संसारके समस्त संकटोंसे निवृत्त होना है, उन संकटोंसे निवृत्त होने के लिए संकट जिन जिन विकारोंको, दोस्तोंको देखकर आया करते हैं उनको हटाना है। होलीके दिनोंमें कोई एक बूढ़ासा अथवा कुछ मजाकिया सा एक ऐसा पुरुष होता है जिसके ऊपर यह सलाह रहती है कि जिस घर पर यह बैठ जायेगा तो १०-२० हुड़दंगा लड़के धूल कीचड़ उड़ा उड़ाकर सारा घर भर देंगे। वे सब आपसमें सलाह कर लेते हैं कि आज फलाने के घरमें धूल कीचड़ डालकर उसकी अक्ल ठीक करना है, वे हुड़दंग लड़के कीचड़ डालते हैं और वह बूढ़ा मजाकिया उनको बनावटी गाली देता है। सारा घर धूलसे भर देते हैं। ऐसे ही ये जितने चारित्र मोहके विकार हैं ये तो हैं वे सब हुल्लड़ लड़के; जो कीचड़, धूल आदि फैंकते है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब हैं हुड़दंगे और बूढ़ा मजाकिया है मिथ्यात्व मोह। यह मोह जिस घरमें बैठ जाता है उस घरमें ये काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि हुड़दंग लड़के कीचड़ उछालते हैं, धूल फैंकते हैं, उसका घर बरबाद कर डालते हैं। जिस किसीमें हिम्मत आ जाय कि इन हुड़दंगोंको निकालकर भगा दें तो ये हुड़दंगे भी अपने आप फिसल जायेंगे। इस तरहसे न वे हुड़दंगे हुल्लड़ मचा सकेंगे और न वह बूढ़ा मजाकिया हुल्लड़ मचा सकेगा।

संकटशमनसाधनके उपायका संकेत— तब क्या करना है ? ऐसा प्रबल बहादुर कोई आये कि इन सबको हटाये, मारे, भगाये तो शांति

होगी, ऐसे ही कोई बहादुर ज्ञानी जीव जो इन सबको अपने घरसे हटा दे तो वह शुद्ध स्वच्छ और शांत रह सकता है। वही काम कराया जा रहा है इस परमार्थप्रतिक्रमण अधिकारमें।

विदेशसे निज घरके विश्रामस्थानमें आनेका क्रम— जैसे कोई पुरुष अपने इटावाके घरसे लालपुराके मकानसे चलकर विलायतमें पहुंचे। बहुत दूर चला गया घरसे १०, ५ हजार मील दूर चला गया। अब जब उसे अपने घरकी सुध आती है अथवा अपने घरका प्रयोजन उसकी दृष्टि में आता है तब वह विलायतसे चलता है। लोग पूछते हैं कहां जा रहे हो? वह कहता है कि अब हिन्दुस्थान जा रहे हैं। हिन्दुस्थानके किनारे आ गया। जब वहांसे चला तो लोग पूछते हैं कि कहां जा रहे हो? तो वह कहता है कि हम उत्तर प्रदेश जा रहे हैं। उत्तर प्रदेशके किनारे पर पहुंचा तो पूछा कि कहां जा रहे हो? तो उत्तर मिला कि हम इटावा जिले जा रहे हैं? इटावा जिलेके निकट पहुंचे तो पूछा कि कहां जा रहे हो? तो उत्तर मिला कि इटावा जा रहे हैं। जब स्टेशन आ गया तो ये रिक्शे वाले पूछेंगे कि कहां जा रहे हो? तो उत्तर मिलेगा कि लालपुरा जा रहे हैं। लालपुराके नुक्कड़में आ गया, वैद्यजी के घरके सामने तक आ गया मानो, तब पूछा गया कि कहां जा रहे हो? तो कहा कि फलानी गलीमें अमुक मकानमें। वहां पहुंचा दिया रिक्शे वाले ने। यहां तक तो दूसरेकी सवारी पर चढ़कर आया। मकानके द्वार पर उतरकर अब क्या करेगा? रिक्शा तो अन्दर घुसता नहीं, अब स्वयं अपने आपके पैरोंसे घरके भीतर जायेगा और जो उसके विश्राम करनेका स्थान है वहां जाकर पंखे की बटन खोलकर गद्दी पर चित्त होकर लेट जायेगा। फिर वह निःसंकोच होकर आराम करने लगेगा।

बाह्योपयोगसे अनिजोपयोगमें आनेका एक क्रम— ऐसे ही यह जीव निज घरसे निकलकर विलायतमें बहुत दूर पहुंच गया। कहां पहुंच गया भाई? इन जड़ पदार्थों तकमें पहुंच गया। जब इसे निजस्वरूपकी खबर आये, अपने प्रयोजनकी बात मनमें आये तो अब यह विलायतसे चला, अब इन जड़ पौद्गलिक प्रसंगोंसे हटा, मानो ये महल मकान पूछ रहे हैं कि कहां जा रहे हो? तो यह उत्तर देता है कि मैं अपनी चैतन्य जातिमें जा रहा हूं। ओह इन पुद्गलोंसे हटकर यह आया मात्र चेतनोंमें, परिजन मित्र चेतन जाति ही तो हैं। वहां भी इसका प्रयोजन न था, तो वहांसे भी हट रहा है तो पूछते हैं वे ही चेतन लोग कहां जा रहे हो? अब मैं जा रहा हूं अपने क्षेत्रमें, अपने अस्तित्वमें। इसके निकट पहुंचा तो पूछा

गया, अब तुम कहां जा रहे हो ? तो उत्तर दिया- अपने स्वतत्त्वकी परख करने जा रहा हूं। अब स्वतत्त्वोंका तो बड़ा विस्तार है—५ हैं स्वतत्त्व। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक। इन तत्त्वोंमें किन्हीं तत्त्वोंमें पहुंच गया। वहां से भी आगे बढ़ने लगा तो वहां भी प्रश्न हुआ। अब कहां जा रहे हो ? तो औदयिक भावोंसे तो उसे हटना था, वहां कुछ प्रयोजन नहीं मिला तो उत्तर मिलना है कि हम अपने स्वभाव विकासकी जगह जा रहे हैं। औदयिक तो केवल विकार भाव है। स्वभाव विकासकी बात तो उनमें नहीं है। वहांसे हटकर स्वभावविकासकी सीमा में पहुंच गया, अल्पविकासमें वहां भी इसका चित्त न लगा। कहां जा रहे हो ? मैं निरुपाधिपरिणमनमें जाना चाहता हूं। वह आया अब कुछ औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक भाव अथवा सम्यक्त्व आदिकके निकट यहां तक आनेमें इस जीवको अपने ज्ञानकी और मनकी दोनोंकी सहायता मिलती रही।

निराकुल निजविश्रामस्थानमें आनेकी पद्धति—अब इसके बाद उतर गया, पूछने वाला अब कोई नहीं रहा, उतर कर अपने ही ज्ञानबल से मनका सहारा छोड़कर अब यह निज परमपारिणामिक संयमभूत शुद्ध जीवत्व ज्ञायकस्वरूपके निजी महलमें यह पहुंचता है और वहां बेखबर होकर जहांसे आया, जो मिले थे, जिनके बीचमें था, जिन-जिनसे बातें हुई थीं, उन सबकी खबर छोड़कर निःशंक होकर सो जाता है। जैसे कोई अकेले बैठे तो कुछ परवाह न करके बैठता है, शरीर कहां जा रहा है, कहां बैठे हैं, कुछ भी परवाह नहीं रहती है और जरा दूसरोंका ख्याल आ जाय, अब यह भाई आयें हैं, यह मां जी आयी हैं तो वह हाथ पैर फटकार कर ढंगसे बैठ गया। अरे यह तो बतावो अब इस ढंगसे बैठनेमें वह आनन्द है क्या जो पहिले अटपट पड़े थे, किसीकी खबर न थी, निःसंकोच मुद्रामें पड़ा हुआ था ? नहीं रहा वह आनन्द। यों ही समझलो—यह जीव निःसंकोच मुद्रामें दूसरेकी सबकी खबर छोड़कर इस ज्ञानस्वरूप की साधनामें एकरस बनकर या यों कहो कि शून्यसा होकर, मग्न होकर विश्राम कर रहा है।

वर्तमान स्थिति और मूल कर्तव्य—अब आप यों समझो कि विश्रामके निजी घरके स्थानको छोड़कर हम कितना दूर भटक रहे हैं ? ध्यानमें लायें और तिस पर भी खेदकी बात यह है कि उस भटकनेपर ही हम गर्व कर रहे हैं, मेरे इतने महल हैं, मेरे इतना धन वैभव है, मैं इतना बड़ा हूं, मैं ऐसा कर सकता हूं, मैंने यों किया था, मैं यों कर दूं, कितना

गर्व मचा रहे हैं। तब स्थिति यह है कि तू न नारकादिक पर्यायरूप है, न इन सर्वपरद्रव्योंका कर्ता है, न इन सर्वपदार्थोंका कराने वाला है। अन्यकी बात तो दूर रहो इन पदार्थोंको करते हुए जो कुछ भी हों उनका तू अनुमोदन करने वाला भी नहीं है। ऐसा परमविविक्तताका भाव रखने वाले ये ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपके क्षेत्रको इतना साफ और स्वच्छ बना लेते हैं कि किसी भी प्रकारके विकारका धब्बा भी नहीं रहने देते। ऐसी शूरवीरता जहां प्रकट हुई वहां ही परमार्थ प्रतिक्रमणरूप अमृत का पान किया जा रहा है।

वास्तविक शूरता— शूरवीरता दूसरोंको सतानेमें नहीं है, शूरवीरता परपदार्थके संचय करनेमें नहीं है, शूरवीरता अपने विषयोंके साधनेमें, विषयोंके संचय करनेमें नहीं है, किन्तु शूरवीरता है सर्वविकार, सर्व दोषोंसे परे रहकर अपने आपमें मग्न हो जानेमें। ऐसा शूर यह ज्ञानी परमार्थ प्रतिक्रमण कर रहा है।

णाहं मग्गणठाणो ण गुणट्ठाणो ण जीवठाणो वा।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७८ ॥

आत्मस्वरूपमें मार्गणास्थानोंका अभाव— मैं मार्गणास्थान नहीं हूं, न गुणस्थान हूं और न जीवस्थान हूं। मार्गणास्थान तो ये हैं—गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा, कायमार्गणा, योगमार्गणा, वेदमार्गणा, कषायमार्गणा, ज्ञानमार्गणा, संयममार्गणा, दर्शनमार्गणा, लेश्यामार्गणा, भव्यत्वमार्गणा, सम्यक्त्वमार्गणा, संज्ञित्वमार्गणा और आहारकमार्गणा। इन मार्गणास्थानोंमें कोई स्थान तो विकृत है और उन विकृतोंमें भी कोई स्थान तो है पुद्गलप्रधान और कोई स्थान है जीवभावप्रधान। और इसके अतिरिक्त एक-एक स्थान प्रत्येक मार्गणामें है शुद्ध पर्यायका स्थान। तो चाहे विकाररूप भाव हो, चाहे पुद्गल प्रचय सम्बंधित स्थान हो और चाहे शुद्धस्वभाव परिणमनका स्थान हो, वे सभी स्थान इस अंतस्तत्त्वमें नहीं हैं अर्थात् वे जीवके स्वभावरूप नहीं हैं।

जीवस्वरूपमें गतिमार्गस्थानका अभाव— नरकगति क्या यह जीव का स्वरूप है? और तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति—ये भी जीवके स्वरूप नहीं हैं और गतिरहित हो जाना यह भी जीवका स्वरूप नहीं है। जीवका स्वरूप तो ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञानानन्द है, सच्चिदानन्द है, ये तो उसकी विशेषताएँ बतायी जाती हैं कि ये अमुक प्रकार हैं, गतिरहित आदिक। ऐसे ही सभी मार्गणावोंमें देख लीजिए, कोई भी मार्गणाके स्थान इस जीवके स्वरूप नहीं हैं।

आत्मस्वरूपमें इन्द्रिय मार्गणास्थानका अभाव— इन्द्रियजाति मार्गणा ६ है, उनमें से क्या एकेन्द्रिय होना जीवका स्वरूप है ? नहीं। दो इन्द्रिय होना, तीनइन्द्रिय होना, चारइन्द्रिय होना पंचइन्द्रिय होना यह कोई जीवका स्वरूप नहीं है। और इन्द्रियरहित होना, यह भी जीवका स्वरूप नहीं है। हालांकि इन्द्रियरहित होना बहुत ही सुन्दर बात है, भली बात है, निर्वाणकी बात है पर जीवका जहां स्वरूप बताया जाय वहां स्वरूप कहना चाहिए। न तो भली स्थितिसे उसका मतलब है और न बुरी स्थितिसे उसका मतलब है। जैसे पूछें कि इस चौकीका स्वरूप क्या है ? और कोई यह कहे कि गंदी रहना यह है चौकीका स्वरूप तो क्या यह उत्तर ठीक है ? ठीक नहीं है। चौकीका स्वरूप गंदी रहना नहीं है। और कोई कहे कि गंदगीसे रहित रहना चौकीका स्वरूप है, तो यह भी गलत है। ये तो मुकाबलेतन इसकी विशेषताएँ हैं। यदि विकार न होता तो स्वच्छताकी क्या प्रशंसा थी ? भगवान सिद्ध बड़े हैं, उनको बड़ा बनाया है तो हम संसारियोंने बड़ा बनाया है। हम लोग बुरे हैं, गंदे हैं, विषयकषायोंमें रत हैं तब वे भगवान बड़े कहलाते हैं। मान लो कदाचित् सभी आत्मा धर्मद्रव्यकी तरह स्वच्छ हों, तो उनमें कौन बड़ा है और कौन छोटा है ? बड़े को बड़ा छोटे ही बनाते हैं, छोटा न हो तो बड़ा क्या? छोटे बड़े जैसे मुकाबलेतन होते हैं। ऐसे ही विकारभाव होना, निर्विकार भाव होना यह भी मुकाबलेतन चीज है, वस्तुका स्वरूप नहीं है। जीवका स्वरूप है शुद्धज्ञायकस्वरूप अथवा मुखसे ही नहीं कह सकते, जो है सो ही है।

जीवस्वरूपमें कायमार्गणाका अभाव— कायमार्गणा ६ हैं ? नहीं। उनमें क्या पृथ्वीकाय जीवका स्वरूप है ? नहीं है। न पृथ्वीकाय, न जलकाय न, अग्निकाय, न वायुकाय, न वनस्पतिकाय और न त्रसकाय ये जीव के स्वरूप नहीं हैं। बल्कि इस भेदमें पुद्गलकी प्रधानता है। होता तो है यद्यपि जीवके संसर्गसे, मगर कायमें पुद्गलप्रचयकी प्रधानता है। ये जीव के स्वरूप नहीं हैं। फिर क्या कायरहित होना जीवका स्वरूप है ? कायरहित होना भी जीवका स्वरूप नहीं है। यह तो एक निर्विकार शुद्धस्वच्छ परिणमते हुए जीवकी विशेषता कही जा रही है। मैं तो एक चित् स्वभाव मात्र हूं, न कायसहित हूं, न कायरहित हूं। ये जो आप जीवस्थान पढ़ते हैं और जितने भेदोंका यह वर्णन है उस वर्णनसे हमें आध्यात्मिक दिशा क्या मिलेगी अंतमें चलकर ? वह यही दिशा मिलेगी जो इस गाथामें कही जा रही है। मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र हूं, मैं मार्गणास्थान-

रूप नहीं हूं। यों ही योगमार्गणाकी बात निरखिये। ४ मनोयोग, ४ वचन योग और ७ काययोग। ये १५ योग हैं। क्या इन योगों रूप रहना मेरा स्वरूप है ? नहीं है। और योगरहित होना वह तो एक विशेषता है, उसका स्वरूप नहीं है। मेरा ही तो शुद्ध तत्त्व निज स्वभावमात्र है।

जीवस्वरूपमें वेदमार्गणाका अभाव— वेदमार्गणामें पुरुषवेद, क्या यह जीवका स्वरूप है ? नहीं है। ऐसे भाव होना, स्त्रीमें अभिलाषा पहुंचना, यह क्या कोई जीवके स्वभावकी बात है। स्त्रीवेद क्या यह जीव का स्वरूप है ? नहीं है। अथवा नपुंसक वेद, क्या यह जीवका स्वरूप है ? नहीं है। तो क्या अपगतवेद होना यह जीवका स्वरूप है ? अपगतवेद होना भी जीवका स्वरूप नहीं है। यद्यपि अपगतवेद होना शुद्ध है, पर स्वरूप यह नहीं है। स्वरूप तो वह हुआ करता है जो अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत अन्तरमें प्रकाशमान् हो। जैसे चौकीका स्वरूप वह है जो गंदी होने पर भी हो और साफ स्वच्छ धुल जाने पर भी हो। यों ही जीवका स्वरूप वह है जो शाश्वत है, अशुद्धपर्यायकी अवस्थामें भी है और शुद्धपर्यायकी अवस्थामें भी है। तो वेदमार्गणाके स्थान हैं वे सब भी मेरे स्वरूप नहीं हैं।

जीवस्वरूपमें कषायमार्गणाका अभाव— कषायमार्गणाके स्थान इन्हें तो प्रकट ही लोग मना कर सकते हैं। कषाय करना क्या जीवका स्वरूप है ? अनन्तानुबंधी क्रोध होना जो मिथ्यात्वको बढ़ाये, सम्यक्त्व न होने दे, जो वर्षों तक, भव भवांतरों तक अपने संस्कार बनाये ऐसी कषाय होना क्या जीवका स्वरूप है ? अणुव्रतका घात करने वाले देशव्रत को न होने देना, अप्रत्याख्यानावरण कषाय होना क्या जीवका स्वरूप है ? या महाव्रतको रोकने वाला, सकलसंन्यासके भावका आवरण करने वाला प्रत्याख्यानावरण कषाय क्या जीवका स्वरूप है ? नहीं है। और संज्वलन जैसी कषाय क्या यह जीवका स्वरूप है ? नहीं है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय—इन चार प्रकारके संयमोंके साथ भी रहने वाले जो कषाय हैं वे भी जीवके स्वरूप नहीं हैं। न हास्यादिक जीवके स्वरूप हैं। फिर क्या कषायरहित होना जीवका स्वरूप है ? यह भी जीवका स्वरूप नहीं है। जीवके स्वरूपकी ज्ञानकारीमें सबसे अधिक कठिनाई पड़ती है। शुद्ध विकास भी जीवका स्वरूप नहीं है इसके निर्णय में। कषायरहित भी जीवका स्वरूप नहीं है।

जीवस्वरूपमें ज्ञानमार्गणाका अभाव— अच्छा ज्ञानमार्गणामें और देखिये मतिज्ञान जीवका स्वरूप नहीं है क्योंकि वह इन्द्रिय और मनका

निमित्त पाकर होता है, ऐसे ही श्रुतज्ञान भी जीवका स्वरूप नहीं है, अवधिज्ञान यद्यपि आत्मीय शक्तिसे होता है, लेकिन वह भी रूपूर्ण है, अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके निमित्तसे होता है, साथ ही वह ज्ञान मर्यादित है तथा केवल रूपी पदार्थोंको ही जानने वाला है। अवधिज्ञान भी जीवका स्वरूप नहीं है, मनःपर्यय ज्ञान भी नहीं है और ऐसा भी जानें कि यह केवलज्ञान भी जीवका स्वरूप नहीं है। यहां जरा अड़चन पड़ेगी। ऐसा वह ज्ञान जो तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानता है, असीम जानता है, निमित्त पाये बिना जानना है, शुद्ध पर्याय है, फिर भी यह जीवका लक्षण नहीं है। जीवका लक्षण तो वह ज्ञानस्वभाव है, वह चैतन्यस्वभाव है जिसका कि केवलज्ञानरूप शुद्ध परिणमन चल रहा है वह परिणमन स्वभावके अनुरूप है। इस कारण स्वभावमें और उस शुद्ध विकासमें अन्तर समझना कठिन हो रहा है, पर स्वभाव तो है अनादि अनन्त और यह शुद्धविकास है अन्तमें प्रकट हुआ।

जीवस्वरूपपरिज्ञानकी विधिमें एक दृष्टान्त— जैसा पूछा जाय कि सूर्यका स्वरूप क्या है? बादल आड़े है, उनमें कुछ बादल हट जानेसे कभी ५० कोश तक उजाला चला और कभी हजार कोश तक उजाला चला और कभी बिल्कुल बादल हट जानेसे मानो करोड़ों कोश तक उजाला चला। अब पूछा जाय कि क्या ५० कोश तक उजाला रखना सूर्यस्वरूप है? क्या सैकड़ों हजारों कोश तक उजाला रखना सूर्यका स्वरूप है? अथवा करोड़ों कोश तक उजाला रखना सूर्यका स्वरूप है? सूर्यका स्वरूप तो जितना सूर्य है उसमें ही पाया जाता है। सूर्यका प्रकाश पूरा प्रकट हो जाना, कम प्रकट रहना यह सूर्यकी बात नहीं है। कम प्रकट हो तब भी सूर्यका स्वरूप सूर्यमें है, पूरा प्रकट हो तब भी सूर्यका स्वरूप सूर्यमें है, ऐसे ही ज्ञान कम प्रकट हो तब भी आत्माका ज्ञानस्वभाव वही का वही पूर्ण है और कभी केवलज्ञान भी प्रकट हो तो कहीं स्वभावमें वृद्धि नहीं हो गयी? स्वभाव तो वही का वही है। इस तरह शुद्ध अशुद्ध पर्यायका स्रोतभूत स्वभावरूप मैं हूं, ऐसी समझ बने ऐसा इसका जानना आध्यात्मिक प्रयोजन है।

जीवस्वरूपमें संयममार्गणास्थानोंका अभाव— ऐसे ही संयममार्गणा जीवका स्वरूप नहीं है। सामायिक संयम जो कि छठे गुणस्थानसे ६ वें गुणस्थान तक चलता है वह परिणमन भी यद्यपि लोगोंके लिए पूज्य है, फिर भी इस जीवका स्वरूप नहीं है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय यहां तक तो इस संयमीके साथ कषायभाव भी

बना हुआ है, पर जहां कोई कषाय नहीं रही ऐसा जो यथाख्यात चारित्र है वह भी जीवका स्वरूप नहीं है। असंयम भी जीवका स्वरूप नहीं है। संयमासंयम भी जीवका स्वरूप नहीं है, और इन सबसे रहित रहना, किसीमें भी वृत्ति न जगना ऐसी स्थिति है यह भी जीवका स्वरूप नहीं है।

जीवस्वरूपका विधि द्वारा परिचय—जीवका स्वरूप न से नहीं जाना जा सकता है, किन्तु विधिसे जाना जा सकता है। किसी मनुष्यकी पहिचान कराना हो और यहां यह कहो कि आप इन्हें जानते हैं? ये इनके मामा नहीं, इनके दादा नहीं, इनके चाचा नहीं, नहीं ही नहीं की बात बताते जावो तो मनुष्यकी पहिचान क्या पकड़में आयेगी। अरे कुछ हां की बात तो कहो, क्या है? तो ये सब न न की बातें हैं, गतिरहित, इन्द्रियरहित, कायरहित। तो यों न से जीवका स्वरूप नहीं जाना जाता है, स्वरूपको तो विधिकी बातसे कहो क्या है और विधिकी बातमें भी जो शाश्वत हो वह बोलो, अशाश्वत न बोलो। न विकार बोलो, न निर्विकार बोलो किन्तु सत्त्वका जिससे सम्बन्ध है, सत्त्वमें जो कुछ भरा पड़ा है उस को बतावो। वह है स्वरूप पदार्थका, इस दृष्टिसे निरखते जाइए तो मार्गणा स्थान जीवका स्वरूप नहीं है।

जीवस्वरूपमें चक्षुर्दर्शनका अभाव—दर्शनमार्गणा भी मेरे जीव का स्वरूप है। चक्षुर्दर्शन आंखोंसे देखना क्या यह जीवका स्वरूप है? नहीं है। चक्षुर्दर्शनका क्या अर्थ है, जरा ध्यान देकर सुनो। आंखोंसे जो समझा है वह चक्षुर्दर्शन नहीं है, आंखोंसे जाना रूप रंग, यह चक्षुर्दर्शन नहीं है। यह तो ज्ञान है। इसे बोलेंगे चाक्षुषज्ञान। इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होने वाले ज्ञानको मतिज्ञान कहते हैं। इन्द्रियमें तो आंख भी है तो आंखके निमित्तसे जो ज्ञान होगा वह चक्षुर्दर्शन नहीं है, वह मतिज्ञान है। चक्षुर्दर्शन क्या है? आंखोंके निमित्तसे जो जानकारी हो रही है जिसे लौकिक लोग देखना कहते हैं, उस रूपके ज्ञानसे पहिले आत्माने जो अपने में जानने के लिए शक्ति प्रकट की है उसका नाम है चक्षुर्दर्शन। आंखोंसे देखनेका नाम चक्षुर्दर्शन नहीं, वह तो ज्ञान है।

दर्शनके स्वरूपका परिचय व दर्शनमार्गणाका जीवस्वरूपमें अभाव—भैया! दर्शनकी बात ऐसे समझलो कि जैसे अभी हम पेटीको जान रहे हैं और पेटीका जानना छोड़कर हम इस द्रव्यको जानने चले तो ऐसी स्थितिमें क्या होगा कि पेटीका जानना छूटा और फिर दूसरी चीजको जाननेके लिए बल प्रकट करनेका यह उपयोग कुछ आत्माकी ओर मुड़ा

जिसे अज्ञानीजन झांक नहीं सकते, फिर उसके बाद ग्रंथ जाना। पेटीका जानन छोड़कर सीधा ग्रंथको नहीं जाना। पेटी जाना, फिर आत्माकी और शक्ति ग्रहण की अन्य चीजोंको जाननेके लिए, फिर अन्य चीजको जाना। तो आंखोंसे जो ग्रंथरूप जाना उससे पहिले जो शक्तिग्रहण हुआ वह है चक्षुदर्शन। ऐसे ही कानसे सुना वह ज्ञान है। उस सुननेके ज्ञानसे पहिले जो शक्ति ग्रहण की वह है कर्णदर्शन। नाकसे जाना उससे पहिले जो शक्ति ग्रहण की वह है घ्राणदर्शन। बना डालो ६ दर्शन। पांच इन्द्रिय और एक मन, इनके निमित्तसे जो ज्ञान होता है उससे पहिले जो शक्तिग्रहण है वह है दर्शन। किन्तु इस दर्शनको दो मे शामिल किया है। आंखोंके सिवाय शेष इन्द्रिय और मनके ज्ञानसे पहिले जो दर्शन होते हैं उन सब दर्शनोंका नाम अचक्षुर्दर्शन है। ऐसे ही अवधिदर्शन। अवधिज्ञानसे पहिले जो शक्ति ग्रहण है, आत्मस्पर्श है, आत्मावलोकन है वह अवधिदर्शन है। यहां तक तो दर्शन ज्ञानसे पहिले हुआ करता है पर केवलदर्शन केवलज्ञान एक साथ होता है; क्योंकि प्रभु परिपूर्ण समर्थ है, उसे पदार्थके जाननेके लिए शक्तिग्रहण नहीं करना है। प्रभुके शक्ति सदा प्रकट है सो शक्ति भी सदा है, जानन भी सदा है, आत्मावलोकन भी सदा है, वह एक साथ हुआ करता है। ये समस्त दर्शनमार्गणास्थान भी जीवके स्वरूप नहीं हैं।

अन्तस्तत्त्वमें लेश्यामार्गणास्थानोंका अभाव-- लेश्यामार्गणाके स्थान ७ हैं। कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या और लेश्यारहित। वैर बांधना, खोटे वचन बोलना आदिक जो कृष्णलेश्याके लक्षण हैं क्या वे जीवके स्वरूप हैं? नहीं हैं। यों ही परिग्रहासक्त होना, दूसरोंकी निन्दा करना, दोषग्रहण करनेका स्वभाव रखना आदिक नीललेश्याके लक्षण हैं, वे जीवके स्वरूप नहीं हैं। स्तुति सुनने पर राजी होना और स्तुतिके कारण अथवा नामवरीके प्रयोजनसे रण तकमें भी अपने प्राण गंवा देना आदि जो कापोतलेश्याके लक्षण हैं वे भी जीवके स्वरूप नहीं हैं। यों ही पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्यामें शुभ भाव चलते हैं। सद्वृत्तिसे रहना, पक्षपात न करना, सबमें समानता रखना आदि जो मंद कषायके लक्षण हैं वे भी जीवके स्वरूप नहीं हैं। ये सब विकार परिणाम हैं। कोई शुभ है, कोई अशुभ है। लेश्यासे रहितपना भी जीवका स्वरूप नहीं है। यह तो एक बाह्यतत्त्वकी अपेक्षा लेकर निषेध वाली बात कही गयी है।

चित्स्वरूपमें भव्यत्वमार्गणास्थानोंका अभाव- भव्यत्व मार्गणा

वह तो हुई सम्यक्त्व प्रकृति और कुछ खण्ड-खण्ड बन जाता है वह हुआ सम्यग्मिथ्यात्व और कुछ वही का वही बना रहे वह हुआ मिथ्यात्व।

दृष्टान्तपूर्वक मिश्र व सम्यक्त्वप्रकृतिकी सत्ता होनेका विधान— जैसे जांतमें चने दले जाते हैं तो उस दलेकी स्थितिमें कुछ तो भूसी बन जाती है जिससे रोटियां बन सकती हैं, और कुछ दाल बन जाती है दो टुकड़े वाली और कोई-कोई विरला चना भी साफ निकल आता है। तो जैसे चनेके दलनेमें तीन बातें हो जाती हैं, इसी तरह सम्यक्त्वपरिणामकी चक्की चलनेमें इस मिथ्यात्वका दलन होता है। कुछ मिथ्यात्वप्रकृतिके मिथ्यात्व ज्योंके त्यों रह जाते हैं, कुछ सम्यग्मिथ्यात्व हो जाते हैं, कुछ सम्यक्प्रकृति हो जाते हैं। अब तो यह उपशम मिथ्यादृष्टि जीवके ७ प्रकृतियों की सत्ता है। यह उपशम सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वमें आ जाय तो उस मिथ्यादृष्टिके भी ७ प्रकृतियोंकी सत्ता रहेगी। उसका नाम है सादि मिथ्यादृष्टि। यों समझ लीजिए। करोड़-करोड़ों वर्षों तक सातों प्रकृतियोंकी सत्ता रहेगी।

वेदककाल, उद्वेलन और पुनः प्रथमोपशम हो सकनेका समय— अब पल्यके असंख्यातवें भाग कालमें मानों करोड़ करोड़ वर्षोंमें कोई सम्यक्त्व उत्पन्न करे तो क्षयोपशम सम्यक्त्व हो सकता है। चाहे उपशम सम्यक्त्वके तुरन्त बाद करले या करोड़ों वर्षोंमें अनगिनते वर्षोंमें कभी करले, उस कालको वेदककाल बोला करते हैं। इतना काल गुजर चुका, फिर क्या होने लगता है कि सम्यक्त्व प्रकृति बदलकर सम्यग्मिथ्यात्व बन जाता है। इस जगह इसके ६ प्रकृतियोंकी सत्ता है, अनन्तानुबंधी चार मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। कुछ ही समय बाद सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति भी बदलकर मिथ्यात्वरूप हो जाती है। अब इसकी ५ प्रकृतियोंमें ही सत्ता रह गयी, अब वह प्रथमोपसम्यक्त्व फिर पैदा कर सकेगा।

अन्तस्तत्त्वमें उपशमसम्यक्त्वस्थानका अभाव— यह सम्यक्त्व परिणाम यद्यपि जीवके श्रद्धा गुणके शुद्ध विकासको लिए हुए है, फिर भी इसमें उपशम है और आपेक्षिक भाव है, मर्यादित काल है। ऐसा उपशम सम्यक्त्व होना जीवका स्वरूप नहीं है। मिथ्यात्व गुणस्थानके बाद जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसका नाम है प्रथमोपशम सम्यक्त्व। और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वके बाद जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह है द्वितीयोपशमसम्यक्त्व—ये दोनों ही जीव के लक्षण नहीं हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में उदयाभावी क्षय— क्षायोपशमिक सम्य-

क्त्वकी बात सुनिये। सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियोंमें से ६ प्रकृतियोंका तो उदयाभावी क्षय हो जाय व आगामी उदय आ सकने योग इन्हीं ६ का उपशम हो जाय व सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो जाय तो वेदक सम्यक्त्व हो जाता है। उदयाभावी क्षय वाली वे कौनसी ६ प्रकृतियां हैं--अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति इनका है उदयाभावी क्षय। उदयाभावी क्षयका सीधा अर्थ यह है कि उदयमें आये फिर भी फल न दे। यहां एक शंका यह हो सकती है कि यह कैसे हो सकता है कि उदयमें आयें और फल न दें। इसका समाधान यह है कि ये उदयावलीमें तो आ गये, इसलिए उदयमें आये कहलाते हैं, किन्तु उदय का जो क्षण है, एक समय है उससे पहिले इन ६ प्रकृतियोंका स्तिबुक संक्रमण हो जाता है। इस कारण यह भी कह सकते हैं कि उदयसे पहिले संक्रांत हो गये इसलिए उदयमें नहीं आये किन्तु उदयावलीमें आये इसलिए उदयमें नहीं आये।

स्तिबुक संक्रमणका विवरण— स्तिबुकसंक्रमणको बड़ा घोर या पूर्ण संक्रमण कह लीजिए। संक्रमण मायने बदल जाना। उदयावलीका एक आवली काल होता है। एक आवली कालमें अनगिनते समय होते हैं। उन अनगिनते समयोंमें से आखिरी समयसे पहिले इन सारे अनगिनते समयों में याने उदयावलीमें अब उनको कोई धोखा नहीं रहना चाहिये, वे सही रहें क्योंकि उदयावलीमें प्रवेश हो गया, इनका इन्टरव्यू हो चुका, किन्तु अब ठीक मौके पर उदयकालके समय पर उनका बदलना हो गया, अब इसके वह प्रकृति नहीं रही, अन्य प्रकृतिरूपसे वे उदयमें आये। उदयाभावी क्षय में यह होता है, इतनी जो यथार्थ बात है। इसे सीधे शब्दोंमें यों कह लीजिए कि उदयमें आयें और फल न दें, इसका नाम है उदयाभावी क्षय।

वेदक सम्यक्त्वमें उपशम और उदय— और मानलो उदयमें आये और फल न दें यह तो हो गया, किन्तु उदीरणा इनकी हो जाय तो जो अगले समय विपाकके लिए पड़े हुए हैं इसके समयसे पहिले यदि उदीरणा हो जाय तो तब तो सम्यक्त्व ही बिगड़ जायेगा ना, तो साथ ही अगले समयमें उदयमें आ सकने योग्य इन्हीं ६ प्रकृतियोंका उपशम भी होना चाहिए। यह भी कैद हो जाय कि ये अब इस समय तक उदयमें नहीं आ सकते। अब रह गयी एक सम्यक्त्व प्रकृति, उसका उदय हो तो बनता है क्षयोपशम सम्यक्त्व।

क्षयोपशम सम्यक्त्व और वेदकसम्यक्त्वमें अन्तर— क्षयोपशम सम्यक्त्वमें और वेदक सम्यक्त्वमें थोड़ा अन्तर है। मगर वह अन्तर बड़े

तत्त्व ज्ञानकी ऊँची चर्चा करते समय बताया जाता है। यहाँ इसका उपयोग होता है, इस कारण चाहे वेदक सम्यक्त्व कहो, चाहे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहो एक ही अर्थमें प्रसिद्ध है। वेदक सम्यक्त्व उसे कहते हैं जिस सम्यक्त्वमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय रहा करता है जहां चल, मलिन, अगाढ़ दोष रहा करते हैं, वेदन नाम उदयका है, वेदन नाम फल भोगनेका है। जहां सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय है उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इसका बहुत लम्बा काल है। ६६ सागर पर्यन्त तक वेदक सम्यक्त्व रहा करता है, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तब कहलाता है जब क्षायक सम्यक्त्वकी तैयारी कर रहा हो जीव। क्षायिक सम्यक्त्वकी तैयारी करते हुएमें कुछ समय तक तो सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय चलता है, फिर उसके बादमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय नहीं रहता और क्या हुआ करता है? कर्मोंकी छांट, उन प्रकृतियोंका क्षय। उन प्रकृतियोंका क्षय यों चलता है कि अनन्तानुबंधी की पूर्ण विसंयोजना कर दे। अप्रत्याख्यानावरण हो गया, अनन्तानुबंधीका क्षय हो गया, मिथ्यात्वकी निर्जरा हो गयी, मिथ्यात्वका क्षय हो गया। सम्यक्मिथ्यात्व सम्यग्प्रकृति रूप बन गया। लो यों सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय हो गया, और सम्यग्प्रकृतिका सीधा क्षय किया जाता है। सर्व संक्रमण करके गुणश्रेणी निर्जरामें क्षय कर दिया जाता है, ऐसी उन ७ प्रकृतियोंके क्षयके समयमें चूँकि जब सम्यग्प्रकृतिका वेदन नहीं होता है इस कारण तब वेदक सम्यक्त्व नहीं कहा जा सकता है; किन्तु जब तक पूर्ण क्षय सातोंका नहीं हो जाता है तब तक क्षायोपशमिक कहलाता है। यों यों क्षायोपशमिक सम्यक्त्व व वेदक सम्यक्त्वमें अन्तर है।

कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि— वेदक सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्कृष्ट है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी जब यह जीव तैयारी कर रहा है उस तैयारीमें जितना समय लगता है उन समयोंमें पहिले तो पहिले समय तक सम्यक्त्वप्रकृतिका वेदन चलता है, पश्चात् वेदन नहीं रहा। उस तैयारीके बीचमें मान लो उस कालके ६, ७ हिस्से कर लो। उनमें से मानों पहिले हिस्सेमें मरते नहीं, अगले हिस्से में मरे तो वह नारक तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इनमें से किसी भी गतिमें पैदा हो सकता है। यहां वे कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं, फिर इसके बादके चरणमें मरे तो वहां मनुष्य तिर्यञ्च और देव—इन गतियोंमें जन्म हो सकता है उसके बादके चरणमें गुजरे तो वह मनुष्य व देव गतिमें हो उत्पन्न हो सकता है। इसके बादके चरणमें गुजरे तो वह देवगतिमें उत्पन्न हो सकता है।

ऐसे बीचमें गुजरने वाले जीवोंके क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो चुका अभी। क्षायिक सम्यक्त्वका प्रारम्भ तो करेगा मनुष्यभवमें और क्षायिक सम्यक्त्वकी पूर्णता करेगा नरकगतिमें, तिर्यञ्चगतिमें, मनुष्यगतिमें या देवगतिमें क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वका प्रारम्भ मनुष्य ही कर सकता है। ऐसे कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि नरकमें जायेंगे तो पहिले ही नरक जायेंगे। तिर्यञ्चमें पैदा हो गये तो भोगभूमिया तिर्यञ्चमें मनुष्यमें उत्पन्न हो गए तो भोगभूमिया मनुष्यमें और देवमें पैदा हो गए तो वे तो स्वर्गोंमें ही पैदा होते हैं और ऊपर भी।

क्षायोपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्व स्थानोंका भी चित्स्वभावमें अभाव— ऐसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व यद्यपि आत्माके श्रद्धा गुणका शुद्ध विकासरूप भाव है, किन्तु क्षायोपशमिक रूप होनेसे वेदक होनेसे सदोष होनेसे यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भाव भी जीवका लक्षण नहीं है। जीव का लक्षण तो क्षायिक सम्यक्त्व जैसे शुद्ध विकास को भी नहीं बताया है। बतलाओ उसमें क्या कमी रह गयी? सातों प्रकृतियोंका पूर्णतया क्षय हो चुका है। निर्दोष सम्यक्त्व है। अन्य सम्यक्त्वोंकी तो बात क्या, क्षायक सम्यक्त्व भी अन्तस्तत्वमें नहीं है। नहीं है इसलिए जीवमें ये सम्यक्त्वके स्थान नहीं होते हैं।

जीवमें मिथ्यात्व और सासादन स्थानका अभाव— सम्यक्त्व मार्गणामें अंतिम तीन स्थान हैं मिथ्यात्व, सासादन और सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व भाव, मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे होता है। इसमें तो बिल्कुल विपरीत आशय होता है। यह तो जीवका स्वरूप हो ही नहीं सकता। सासादन भाव सम्यक्त्वसे गिरने पर और मिथ्यात्वमें न आ पाने तक जो मध्यकी स्थिति है वह भी है खोटा ही आशय, उसे सासादन सम्यक्त्व कहते हैं। सासादन सम्यक्त्वमें ऐसा स्वाद है जैसे सम्यक्त्वो वमन करते समयमें जो जिह्वापर स्वाद हो उस ढंगका, अर्थात् कहनेको तो यह है कि भोजन मुखमें है मगर वह वमनके समयका स्वाद है, यों ही सम्यक्त्वके वमनका स्वाद है। सम्यक्त्व नाममात्रके लिए नहीं है इसलिए इसका नाम है सासादन सम्यक्त्व। सासादनका क्या अर्थ है? आसादनसहित सासादन। आसादन कहते हैं विघात। जहां सम्यक्त्वका विघात हो गया है उसे कहते हैं सासादन सम्यक्त्व। सासादन सम्यक्त्व नाम सुनकर कोई यह न सोचे कि चलो हमारे कोई तो सम्यक्त्व आया है पर जैसे किसीको कह दिया जाय निर्धन और वह राजी हो कि हमारे सम्बोधनमें इतने धन तो लगा दिया, तो वह राजी होना मूर्खतापूर्ण है, इसी तरह सासादन

सम्यक्त्वमें कुछ रानी होना मूर्खतापूर्ण है। मिथ्यात्वके भाव और सासादन के भावमें मात्र थोड़ा अन्तर है यह कहने सुननेका। अनन्तानुबंधी के उदयसे सम्यक्त्वका घात हो जाता है और मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व प्रकट होता है। सासादनका भी भाव खोटे भावका है, यह भी जीवका स्वरूप नहीं है।

जीवमें सम्यग्मिथ्यात्व स्थानका अभाव—सम्यक्‌मिथ्यात्वमें कुछ सम्यक्‌पना कुछ मिथ्यात्व भाव ऐसा मिश्रण है कि जिसे न केवल सम्यक्त्व कह सकते हैं और न केवल मिथ्यात्व कह सकते हैं। जैसे दही गुड़ मिलाकर खानेमें जो स्वाद होता है, उसमें न केवल दही का स्वाद है और न केवल गुड़का स्वाद है, ऐसा ही मिश्रणरूप भाव यह सम्यग्मिथ्यात्व है, यह भी जीवका स्वरूप नहीं है।

जीवमें संज्ञित्वमार्गणास्थानोंका अभाव—संज्ञीमार्गणामें ३ स्थान हैं—संज्ञी, असंज्ञी और अनुभय। जहां मन है, विवेक है, हित अहितका विचार करनेकी योग्यता है उस जीवको कहते हैं संज्ञी, ऐसे विचार करने की योग्यता हो जाना यह भी जीवका स्वरूप नहीं है। यह भी विकृत अवस्थाकी बात है। जीवका स्वरूप तो शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेका है। जहां हित अहितका विचार नहीं हो सकता है ऐसे परिणामको असंज्ञित्व कहते हैं। यह भी जीवका स्वरूप नहीं है और जहां न संज्ञी रहा, न असंज्ञी रहा ऐसा अनुभयपना भी जीवका स्वरूप नहीं है। यह अनुभयपना अयोगकेवली सयोगकेवली और सिद्ध भगवंतोंके होता है। जैसे भव्यत्वका अनुभय कोई विधिरूप नहीं है, जीवका स्वरूप नहीं है यों ही यह अनुभव जीवका स्वरूप नहीं है।

चित्स्वरूपमें आहारकमार्गणा—आहारक मार्गणाके दो स्थान हैं आहारक और अनाहारक। जो आहारवर्गणावोंको ग्रहण करता है सो वह आहारक है और जो आहारवर्गणावोंको नहीं ग्रहण करता है सो अनाहारक है। आहारवर्गणासे औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर बनता है और श्वासोच्छ्‌वास भी इन वर्गणावोंसे होता है। इन्द्रिय रचना भी आहारकवर्गणावों से होती है। ये आहारक वर्गणाएं जिसके ग्रहणमें आती हैं उसे उसे आहारक कहते हैं और जब ग्रहण में नहीं आते हैं तब उसे अनाहारक कहते हैं। अनाहारक दशा मरनेके बाद मोड़ों सहित विग्रह गतिमें होती है? अथवा केवलीसमुद्‌घातमें प्रतर लोकपूरण और प्रतर इन तीन समयोंमें होते हैं। इन्हीं तीन समयों में जीवके कार्माणकाय योग होता है। १४ वें गुणस्थान वाले भी अनाहारक

होते हैं और सिद्ध भगवान भी अनाहारक होते हैं। ये दोनों ही स्थान जीवके स्वरूप नहीं हैं। इस प्रकार ये १४ प्रकारके मार्गणा स्थान जीवके स्वरूप नहीं हैं।

ज्ञानी पुरुषका चिन्तन — ज्ञानी पुरुष यहां चिंतन कर रहा है कि मैं क्या हूं? अपने आपका शुद्धस्वरूप जाने बिना यह अशुद्ध विभावोंके विकारोंको दूर नहीं कर सकता है। परमार्थप्रतिक्रमण तब तक हो ही नहीं सकता जब तक परमार्थस्वरूपका परिचय न हो। इस जीवने अनादि काल से अब तक अनेक काम किये, अनेक विचार किये, किन्तु अपने घरकी सफाई भी नहीं कर सका। रागादिक विकारोंका कूड़ा कचरा ढेरोंका ढेर इसमें भरा रहा। यद्यपि आत्मीय स्वच्छताका कार्य बहुत सरल है और विकार भावोंका कार्य कठिन है, पराधीन है, नैमित्तिक है, किन्तु इस मोही जीवको पराधीन कार्य तो सुगम बन रहा है और स्वाधीन कार्य इसे कठिन हो रहा है। यह कठिन तब तक है जब तक इस जीवको आत्मीय सहज आनन्दका स्वाद नहीं आ जाता है। एक इस आत्मतत्त्वका परिचय होने पर फिर तो यह पंचेन्द्रियके और मनके समस्त विषय असार प्रतीत होने लगते हैं। मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। इस ही चैतन्य परिणमनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हूं—ऐसी भावना जिन ज्ञानी संतोंके होती है वे पुरुष भव-भवके बटोरे गये विकार भावोंको समाप्त कर देते हैं।

शुद्ध बोध और त्यागमें शान्ति — भैया! शुद्ध आनन्द जीवको आत्मतत्त्वके सहजस्वरूपके परिचयमें ही मिलेगा। ये पंचेन्द्रियके विषय भोग जो भोगते समय सारसे दिखते हैं इनमें रंच भी सार नहीं है। आज तक कितने ही भोग भोगे, पर इनसे कुछ भी हाथ लगा हो तो बतावो। भव-भवकी तो बात जाने दो, इस भवमें ही कितना काल भोगोंमें व्यतीत कर डाला, पर कोई तृप्ति भी आज है क्या? अशांति ज्योंकी त्यों बनी हुई है। उन भोगोंका परिचय होनेसे तृष्णा और बढ़ रही है। कोईसा भी विषय ले लो सब विषयोंमें असारता ही नजर आयेगी। कोई जन तो थोड़ासा ही चिंतन करने से, श्रवण करनेसे विषयोंसे विरक्त हो जाते हैं और कोई पुरुष उन भोगों का परिचय पा लेने पर उनमें असारता अनुभूत होने पर भोगोंको छोड़ देते हैं और कोई पुरुष भोगोंको भोगते ही जाते हैं और कभी भोगोंसे हटनेका परिणाम भी नहीं करते। मरण होने पर ही वे भोगोंसे छूट पाते हैं।

एक दृष्टान्तमें तीन तरहके पुरुष — एक कथानक है कि एक मंदिर

मलका टोकना लिए जा रही थी। किसी सज्जन पुरुषने सोचा कि इस टोकरे पर एक साफ तौलिया ढक दी जाय तो सड़कों पर बैठे हुए लोगोंको तकलीफ न होगी, सो उस भंगिनसे कहा लो यह तौलिया, मैंने तुम्हें बिल्कुल दे दिया। तुम इससे इस मलके टोकरे को ढक लो। वह बहुत साफ स्वच्छ तौलिया था। उसने ढक लिया। तीन पुरुषोंने देखा कि बहुत बढ़िया कपड़ेसे क्या ढका हुआ है, वे तीनों पुरुष पीछे लग गए। भंगिन कहती है कि तुम तीनों मेरे पीछे क्यों लग गए? वे उत्तर देते हैं कि इस टोकरे में कोई बढ़िया चीज रक्खी है हम उसे देखेंगे। भंगिन बोली—अरे बावलो! लौट जावो, इस टोकरेमें मल पड़ा हुआ है। एक पुरुष इतनी बात सुनकर लौट गया। दो पुरुष पीछे लगे रहे। भंगिन बोलती है कि तुम दोनों क्यों पीछे लगे हो? जवाब दिया कि हम तो नहीं मानेंगे जब तक देख न लेंगे और पक्का निर्णय न कर लेंगे कि हां इसमें मल है। भंगिन ने उस तौलिये को हटा दिया। तो उन दोनोंमें से एक देखकर लौट गया। तीसरे पुरुषको अभी विश्वास न हुआ। वह पीछे ही लगा रहा। भंगिन कहती है अरे तुम क्यों पीछे लग रहे हो? तो वह तीसरा पुरुष बोला—यों देखने से हम न मानेंगे, हम तो उसकी परीक्षा कर लेंगे कि वास्तवमें यह मल ही है तब लौटेंगे। अब उसने टोकरा खोला, उसने खूब सूँघ सांघ लिया। जब पक्का निर्णय हो गया तब उसको लौटनेकी बुद्धि आयी।

तीन प्रकृतिके पुरुष—यों ही समझो कि तीन तरहके मनुष्य इस लोकमें हैं। एक तो वे हैं जो ऋषि संतोंकी देशना सुनकर भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं, निज ब्रह्मस्वरूपमें रत होनेका यत्न करते हैं और एक वे पुरुष जो भोगोंको भोगते हैं, अपना आधा अथवा और कुछ अधिक जीवन विषयभोगोंमें बिता देते हैं, और कभी क्लेश हों, कभी चिंताएँ हों अनेक रंग ढंग देखें, कुछ विवेक भी जगे तब उन्हें यह अनुभव होता कि भोगोंमें सार कुछ नहीं है और यह ख्याल होता कि मैं अकेला ही आया था और अकेला ही मरकर जाऊँगा, जो कुछ भी संचय किया है वह सब यहीं तो रह जाना है और जिस किसी भी पुत्रादिकको अपना उत्तराधिकारी माना है वह भी एक भिन्न चेतन है जैसे जगत्के अनेक जीव हैं उन ही जीवों की भांति अत्यन्त भिन्न स्वयं अपने स्वरूप और स्वार्थमें ही निरत है। उसका जैसा भाग्य होगा उसके अनुसार ही उसका पुण्योदय है तो आप न भी कुछ कर जायें तो भी वह सब कुछ कर सकता है और यदि पुण्योदय नहीं है तो आप जो वैभव रख जायेंगे उसे वह एक साल भी न संभाल

सकेगा। तो फिर किस लिए धन वैभवका संचय करना ? यह जीवन तो धर्मसाधनके लिए मिला है, मौज और भोगोंके लिए नहीं है। भोग और मौज तो पशुपर्यायमें भी पाये जा सकते हैं। पशुवोंको देखा ही होगा। वे भी आहार, निद्रा, मैथुन आदि भोगनेमें मस्त रहा करते हैं। कुछ यों ही सोचकर दूसरे पुरुष भोगोंसे विरक्त होकर अपना शेष जीवन धर्म-पालनमें लगाते हैं, किन्तु तीसरे पुरुष वे हैं कि वृद्ध भी हो गए, भोग भोगते भी नहीं बनते हैं लेकिन भोगोंकी इच्छा नहीं त्यागी जा सकती है और किसी भी प्रकार अपना मन पूर्ण करते हैं। न कषाय जा सकती हो, अग्नि मंद हो गयी हो, लेकिन फिर भी थोड़ी जीभ पर स्वाद तो ले ही लें। लेते हैं, खाते हैं, दुःखी होते हैं, भोग त्यागे नहीं जाते हैं। उनके भोग मरण होनेके कारण छूटा करते हैं।

निज निधिकी संभालपर एक दृष्टान्त— विवेकी पुरुष वही हैं जो इस दुर्लभ नर-जीवनका लाभ लूट लें। जब देह भी नहीं रह गया तो अन्य समागमकी अब चर्चा ही क्या करना है ? जैसे किसी सेठका लड़का छोटी उम्रका है, सेठ गुजर जाय। अब सरकार उस सेठकी जायदाद अपने अधिकारमें रख लेती है, कोर्ट आफ बोर्ड कर लेती है और उस बच्चेके पोषणके लिए सरकार व्यवस्था बनाती है, ५०० रु० महीना खर्चेके लिए उस बालकको सरकार देती रहती है। वह बालक सरकारके गुण गाता है, वाह सरकार बड़ी दयालु है, हमें घर बैठे ५०० रुपये महीना देती है। जब वह बालक २०-२१ वर्षका हुआ, लोगोंने उसे बताया, खुद भी समझा कि ओह मेरी १० लाखकी जायदादको सरकारने कोर्ट आफ बोर्ड कर लिया है और मुझे ५०० रुपये मासिक देकर संतुष्ट करती है। वह इन ५०० रुपये में राजी नहीं होता है। वह सरकारको नोटिस दे देता है कि मुझे ५०० रुपये महीना न चाहिए, मैं अब बालिग हो गया हूं, मुझे जो मेरी १० लाख रुपयेकी जायदाद जो कोर्ट आफ बोर्ड कर ली गयी है वह चाहिए।

निज निधिकी संभाल — यों ही जानो कि यह नाबालिग मिथ्यादृष्टि जीव थोड़ासा धन वैभव ठाठ बाट, मान, प्रतिष्ठा पाकर कर्म सरकारके गुण गाता है, और जब इसे अपनी अनन्त निधिका पता चलता है तो यह कर्मसरकारको नोटिस दे देता है कि मुझे तो मेरी अनन्त निधि चाहिए। जब ऋषिसंतोंकी देशनासे अथवा अपने अनुभवसे इसे कुछ पता पड़ता है अहो मेरा तो सहजस्वरूप है शुद्ध चैतन्य तत्त्व, केवल ज्ञातादृष्टा रहना मेरा काम है। मेरी अनन्त आनन्दकी निधिको इस कर्म सरकारने

फोर्ट आफ बोर्ड कर लिया है, इसके एवजमें हमें थोड़े भोग साधन मिले हैं, जब यह जीव बालिग होता है, ज्ञानी बनता है तब इन भोगके साधनोंमें उसका मन नहीं लगता है। ये सब क्लेशकी चीजें विदित होती हैं। तब पुण्यसरकारको नोटिस दे देता है कि हमें तुम्हारे दिये भोग नहीं चाहियें। मुझे तो अपने आत्मीय वैभवसे दरकार है। यों त्याग करके अपनी निधि पा लेता है।

आनन्द मिलनकी रीति— भैया! भोग भोगते हुए क्या कोई दुःखोंसे मुक्त हो सकता है? धन वैभव से लिप्त रहते हुए क्या कोई शांति प्राप्त कर सकता है? नहीं प्राप्त कर सकता है। गरीबोंको देखो तो उनके माफिक दुःख हैं, धनिकोंको देखो तो वे अपने माफिक चिंताएँ बनाए हुए हैं। अरे आत्मन्! यदि तुम संसारके समस्त संकटोंसे मुक्त होना चाहते हो तो अपने आपमें बसे हुए इस प्रभुके दर्शन करो। इन समस्त परवस्तुवोंकी ओरसे उपयोगको तो दूर करो। देख तेरा ही स्वरूप अनन्त ज्ञान और आनन्दसे भरा हुआ है। तेरेको कहीं भी क्लेश नहीं है। तू बना बना कर क्लेश पा रहा है। तू जैसा है तैसा ही अपनेको मान तो सारे क्लेश तेरे समाप्त हो जायेंगे। तू तो केवल चिदानन्दस्वरूप है, केवलज्ञान मात्र है, किसी भी परवस्तुविषयक विकल्प होता हो तो उसे तू शत्रु मान। जगत्के किसी भी जीवको तू शत्रु मत मान। कोई तेरा शत्रु नहीं है किन्तु अपनेमें ही जो परवस्तुविषयक भली अथवा बुरी कल्पनाएँ जगती हैं, जो भी अनुराग उठता है उस रागभावको तू शत्रु मान, उससे निवृत्त हो और अपने को केवल ज्ञानमात्र अनुभव कर। देख तेरा आनन्द स्वयमेव प्रकट हो जायेगा।

अपराधसे मुक्तिमें शान्ति— भैया! कुछ क्षण ज्ञानमय तो रहकर देख, फिर आनन्द न मिले तो कह। ज्ञाता द्रष्टा रहने, मात्र जाननहार रहने से ही आनन्द है। इस जीवने किसी परवस्तुमें कुछ ममत्व किया कि यह मेरा है, इससे ही मेरा बड़प्पन है, इससे ही मेरा जीवन चलेगा बस इसीसे ही क्लेश हो जाते हैं। वे क्लेश परवस्तुसे नहीं होते हैं, किन्तु परवस्तुके सम्बन्धमें जो ममतापरिणाम किया गया है उसका क्लेश है। जो मेरा नहीं है उसे मेरा मानना इसी का नाम वास्तविक चोरी है। जो चोरी करता है वह कैसे निर्भय हो सकता है, वह कहां शांत हो सकता है यों ही अपने निजी आनन्दस्वरूपको छोड़कर अन्य किसी वस्तुमें यह मेरी है ऐसा परिणाम बनाया बस चोरी कर ली। ऐसी चोरी करने वाले पुरुष को कहां निर्भयता मिल सकती है, कहां शांति प्राप्त हो सकती है? शांति

चाहते हो तो सर्वविकल्पोंको तोड़कर एक शुद्ध निज ज्ञानस्वरूपका अनुभव करो और इसके उपायमें ज्ञानार्जन करो, सत्संगति करो, गुरुवों की उपासना करो और अपने जीवनका एक यह लक्ष्य बनावो कि मैं सदा ज्ञानवृत्तिसे रहूंगा। इस उपायसे ही जीवनमें शांति मिल सकती है। ऐसा विवेक जो कर सकते हैं वे संसारसमुद्रसे तिर जायेंगे, नहीं तो संसार का भटकना जैसे अनादिसे चला आया है वैसा ही बना रहेगा।

अन्तस्तत्त्वमें गुणस्थानोंकी भी अप्रतिष्ठा— परमार्थप्रतिक्रमणके इस महान् पुरुषार्थके अवसरमें यह अंतस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानी संत अपने आपको सहजसिद्ध परम स्वच्छ निरख रहा है, यह मैं आत्मतत्त्व किसी भी गुणस्थानरूप नहीं हूं। गुणस्थान १४ होते हैं—मिथ्यात्व, सासादन सम्यक्त्व, मिश्रसम्यक्त्व, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्णकरण उपशमक व क्षपक, अनिवृत्तिकरण उपशमक व क्षपक, सूक्ष्मसम्पराय उपशमक व क्षपक, उपशांत मोह, क्षीणमोह, संयोगकेवली और अयोगकेवली। इस प्रकरणमें सबसे पहिले असमानजातीय द्रव्यपर्यायका प्रतिषेध किया गया था। इसके पश्चात् जो भाव अथवा प्रकट असमानजातीय द्रव्यपर्यायसे तो सूक्ष्म है, किन्तु जीव और पुद्गलके परस्परके विशेष सम्बन्धके कारण है, ऐसे मार्गणा स्थानका प्रतिषेध किया गया था। अब यह आत्माकी श्रद्धा और चारित्रके परिणमनरूप गुणस्थानोंका प्रतिषेध किया जा रहा है।

जीवस्वरूपमें मिथ्यात्व गुणस्थानका अभाव— पहिला गुणस्थान है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय प्रकृतिके उदयके निमित्तसे जो विपरीत आशयरूप परिणाम होते हैं उसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। यह भाव अत्यन्त विपरीत भाव है। इसे तो प्रकट ही सभी लोग कह सकते हैं कि यह जीवका स्वरूप नहीं है। इस जीवमें मिथ्यात्व गुणस्थान नहीं पाया जाता है। यद्यपि यह विपरीत आशय जीवके परिणमन रूप ही है किन्तु इस प्रकरणमें सहज सिद्ध निरपेक्ष अपने ही स्वरूपास्तित्वके कारण जो इसका सनातन शाश्वतरूप है उसकी दृष्टिसे रखकर कहा जा रहा है।

जीवस्वरूपमें सासादन गुणस्थानका अभाव— दूसरा गुणस्थान है सासादन। जिसमें सम्यक्त्वकी आसादना हुई हो उसे कहते हैं सासादन सम्यक्त्व। यह भाव भी विपरीत आशयको लिए हुए है। इसमें सम्यक्त्व का लेश नहीं है, किन्तु ग्रहण किए गये सम्यक्त्वका वमन है इसमें। जैसे कोई पुरुष खाये हुए भोजनका वमन करता है तो वमनके समय कैसा स्वाद

आता है वह विपरीत स्वाद है, भोजनका स्वाद नहीं है। ऐसे ही सम्यक्त्व का जहां वमन हुआ है ऐसी स्थितिका जो आशय है वह विपरीत आशय है। यह अनन्तानुबंधी कषायके उदयके निमित्तसे होता है और चूँकि पहिलेके चार गुणस्थानोंका मोहके निमित्तसे नाम बताया गया है सो यहां दर्शन मोहका न उपशम है, न क्षय है, न क्षयोपशम है और न उदय है। इस कारण दर्शनमोहकी अपेक्षासे पारिणामिक भाव भी इस गुणस्थानको बनाया जाता है, किन्तु है यह गुणस्थान विपरीत आशय। यह गुणस्थान भी जीवका स्वरूप नहीं है।

जीवस्वरूपमें मिश्र गुणस्थानका अभाव— तीसरा गुणस्थान है मिश्र गुणस्थान। जहां सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका सम्मिश्रण है जिसे न केवल सम्यक्त्व रूप कह सकते हैं और न केवल मिथ्यात्वरूप कह सकते हैं, किन्तु जैसे मिले हुए दही गुड़में न केवल दही रूप कह सकते हैं और न केवल गुड़ रूप कह सकते हैं, यों ही एक तृतीय प्रकारका परिणाम है उसे कहते हैं मिश्रसम्यक्त्व। मिश्रसम्यक्त्वका परिणाम ढुलमुल मिला परिणाम है और इसी कारण जीवके मरते समय याने भव छोड़ते समय मिश्र- परिणाम नहीं रह सकता। वहां तो किसी न किसी प्रकारका एक निश्चय- परिणाम होना चाहिए। ऐसा प्राकृतिक नियम है कि मरते समय यह ढुल- मुलका मिश्रणरूप सम्यक्मिथ्यात्व परिणाम रह नहीं सकता। या तो मिथ्यात्व रूप हो जायेगा या सम्यक्त्व रूप परिणाम हो जायेगा। खैर यह भी परिणाम अशुभोपयोगमें शामिल है, इसे जीवका स्वरूप नहीं कहा गया है।

जीवस्वरूपमें अविरतसम्यक्त्व गुणस्थानका अभाव— चौथा गुण- स्थान है अविरतसम्यक्त्व। जहां व्रत न हो और सम्यक्त्व हो ऐसे गुण- स्थानका नाम है अविरतसम्यक्त्व। यद्यपि इस गुणस्थानमें जान बूझकर त्रस जीवकी संकल्पकृत हिंसा नहीं होती है, फिर भी किसी अवसर पर किसीके समक्ष इसकी हिंसाके त्यागका नियम भी नहीं लिया है इसलिए यहां छहों प्रकारके कार्य अविरति बताये गये हैं। पशु तिर्यञ्च भी हों और यदि वे सम्यग्दृष्टि हैं तो किसी जीवकी वे हिंसा नहीं करते। जिसको अपने स्वरूपके समान समस्त जीवोंका स्वरूप विज्ञात है उसके ऐसी प्रवृत्ति नहीं हो सकती कि वह अन्य जीवका संकल्पसे घात करें यहां। अब श्रद्धा में शुद्धि हुई, श्रद्धागुणका शुद्ध विकास हुआ, इतने पर भी चूँकि अव्रत भाव है और यह परिणाम भी यहां नैमित्तिक [illegible] इसे भी जीवका स्वरूप नहीं कहा गया है।

जीवस्वरूपमें देशविरत गुणस्थानका अभाव— ५ वां गुणस्थान देशविरत। जहां त्रस जीवकी हिंसाका तो त्याग है, संकल्पी हिंसाका त्याग किया गया है और स्थावर जीवकी हिंसाका त्याग नहीं हो सक[illegible] ऐसा कुछ संयम और कुछ असंयमका जहां परिणाम है उसे देशविरत गुणस्थान कहते हैं। यहां पर भी तीनों सम्यक्त्वमें से कोई भी सम्यक्त्व हो सकता है। अब पंचमगुणस्थान से जिसमें पंचम गुणस्थान भी आ गया है आगेके सब गुणस्थानोंका चारित्रमोहके निमित्तसे नामकरण किया गया है। सो देशविरत गुणस्थानकी संज्ञा होनेमें चारित्रमोहकी कौनसी अवस्था निमित्त है? इस गुणस्थानके बननेमें निमित्त है अप्रत्याख्यानावरण नामक कषायका क्षयोपशम।

जीवस्वरूपमें प्रमत्तविरत गुणस्थानका अभाव— छठे गुणस्थानका नाम है प्रमत्तविरत। जहां व्रत तो पूर्ण हो गया हो अर्थात् हिंसा छूट गयी हो, परिग्रह छूट गया हो, पांचों पापों का सर्वथा त्याग हो चुका हो, किन्तु प्रमाद है तो मोक्षमार्गमें जैसा निष्प्रमाद परिणाम होना चाहिए अर्थात् इस शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यानमें ही परिणाम निरत रहना चाहिये, किन्तु इस गुणस्थानमें ऐसा न होकर शुभोपयोगमें शिक्षा देना, दीक्षा देना, प्रायश्चित्त देना, निर्देश देना, ये भी बातें हुआ करती हैं और स्वयंका चलना, चर्या करना, आहार लेना आदिक बातें हुआ करती हैं, इस कारण इस गुणस्थानको प्रमत्तविरत कहते हैं। यह भी जीवका स्वरूप नहीं है।

अप्रमत्तविरत गुणस्थानके भेद व लक्षण— ७ वां गुणस्थान है अप्रमत्तविरत। जहां व्रत तो पूर्ण हो गया है, किन्तु प्रमाद नहीं रहा अर्थात् शुद्ध ध्यान है, जहां किसी प्रकारका आर्तध्यान भी नहीं है, व्यवहारकी कोई प्रवृत्ति ही नहीं रही है— ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यानमें निरत महाव्रती साधुवोंको अप्रमत्तविरत कहते हैं। इस अप्रमत्तविरत गुणस्थानमें दो प्रकारकी तैयारी है— एक साधारण तैयारी और एक प्रगतिशील तैयारी। प्रगतिशील तैयारीमें अधःकरण परिणाम होता है। अर्थात् आगे श्रेणियोंमें चढ़नेके लिए विशिष्ट परिणाम होता है उसे कहते हैं सातिशय अप्रमत्तविरत और जो साधारणतया सप्तम गुणस्थानमें है उसे कहते हैं स्वस्थान अप्रमत्तविरत।

सातिशय अप्रमत्तविरतमें पहिले भी करणत्रयकी संभवता— श्रेणीमें चढ़नेके लिए जो अधःकरण परिणाम होता है उससे पहिले इस गुणस्थानमें यदि क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है तो वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करनेका उद्यम करता है तथा कोई क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न

आता है वह विपरीत स्वाद है, भोजनका स्वाद नहीं है। ऐसे ही सम्यक्त्व का जहां वमन हुआ है ऐसी स्थितिका जो आशय है वह विपरीत आशय है। यह अनन्तानुबंधी कषायके उदयके निमित्तसे होता है और चूँकि पहिलेके चार गुणस्थानोंका मोहके निमित्तसे नाम बताया गया है सो यहां दर्शन मोहका न उपशम है, न क्षय है, न क्षयोपशम है और न उदय है। इस कारण दर्शनमोहकी अपेक्षासे पारिणामिक भाव भी इस गुणस्थानको बताया जाता है, किन्तु है यह गुणस्थान विपरीत आशय। यह गुणस्थान भी जीवका स्वरूप नहीं है।

जीवस्वरूपमें मिश्र गुणस्थानका अभाव—तीसरा गुणस्थान है मिश्र गुणस्थान। जहां सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका सम्मिश्रण है जिसे न केवल सम्यक्त्व रूप कह सकते हैं और न केवल मिथ्यात्वरूप कह सकते हैं, किन्तु जैसे मिले हुए दही गुड़में न केवल दही रूप कह सकते हैं और न केवल गुड़ रूप कह सकते हैं, यों ही एक तृतीय प्रकारका परिणाम है उसे कहते हैं मिश्रसम्यक्त्व। मिश्रसम्यक्त्वका परिणाम ढुलमुल मिला परिणाम है और इसी कारण जीवके मरते समय याने भव छोड़ते समय मिश्र-परिणाम नहीं रह सकता। वहां तो किसी न किसी प्रकारका एक निश्चय-परिणाम होना चाहिए। ऐसा प्राकृतिक नियम है कि मरते समय यह ढुल-मुलका मिश्रणरूप सम्यकमिथ्यात्व परिणाम रह नहीं सकता। या तो मिथ्यात्व रूप हो जायेगा या सम्यक्त्व रूप परिणाम हो जायेगा। खैर यह भी परिणाम अशुभोपयोगमें शामिल है, इसे जीवका स्वरूप नहीं कहा गया है।

जीवस्वरूपमें अविरतसम्यक्त्व गुणस्थानका अभाव—चौथा गुण-स्थान है अविरतसम्यक्त्व। जहां व्रत न हो और सम्यक्त्व हो ऐसे गुण-स्थानका नाम है अविरतसम्यक्त्व। यद्यपि इस गुणस्थानमें जान बूझकर त्रस जीवकी संकल्पकृत हिंसा नहीं होती है, फिर भी किसी अवसर पर किसीके समक्ष इसकी हिंसाके त्यागका नियम भी नहीं लिया है इसलिए यहां छहों प्रकारके कार्य अविरति बताये गये हैं। पशु तिर्यञ्च भी हों और यदि वे सम्यग्दृष्टि हैं तो किसी जीवकी वे हिंसा नहीं करते। जिसको अपने स्वरूपके समान समस्त जीवोंका स्वरूप विज्ञात है उसके ऐसी प्रवृत्ति नहीं हो सकती कि वह अन्य जीवका संकल्पसे घात करे यहां। अब श्रद्धा में शुद्धि हुई, श्रद्धागुणका शुद्ध विकास हुआ, इतने पर भी चूँकि अव्रत भाव है और यह परिणाम भी यहां नैमित्तिक है, अतएव इसे भी जीवका स्वरूप नहीं कहा गया है।

करनेका उद्योग करता है। वहां वैसे भी अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण परिणाम होता है। इस परिणामका नाम लेनेमें ८ वां, ९ वां गुणस्थान न समझना, किन्तु आत्माका जो स्वरूप बताया है जिसे नक्शे द्वारा आप जानते हैं वह उस परिणामका स्वरूप है। यह स्वरूप जिन परिणामों में पाया जाय वह अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण कहलाता है।

करणत्रय होनेके अनेक अवसरोंके कुछ उदाहरण—जब जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करता है तो मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही अधःकरण, अपूर्वकरण, और अनिवृत्तिकरण परिणाम होते हैं। जब यह जीव मिथ्यात्व गुणस्थानके बाद क्षयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करता है तो उसके अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो परिणाम होते हैं। जब जीव क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता है तो उस समयमें दो बारमें तीन तीन करण किए जाते हैं। अनन्तानुबंधीके विसंयोजनरूप क्षयमें और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियोंके क्षयमें प्रथम तो अनन्तानुबंधीके क्षयके समय में भी ये तीन परिणाम होते हैं और इसके बाद विश्राम लेकर फिर तीन परिणाम होते हैं जिनसे दर्शनमोहनीय की प्रकृतियोंका क्षय होता है। यह जीव जब देश संयम भावको उत्पन्न करता है अर्थात् पंचम गुणस्थानका भाव उत्पन्न करता है उस समय भी इसके अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो परिणाम होते हैं। जब महाव्रत उत्पन्न करता है उस समय भी अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो परिणाम होते हैं। इस प्रकार कई अवसरोंमें ये करण होते हैं।

अब यह क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त विरत गुणस्थान वाला यदि उपशम श्रेणीमें चढ़नेको है तो उसके अधःकरण परिणामसे पहिले और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होनेसे पहिले तीन परिणाम होते हैं, जिससे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ, पश्चात अधःकरण-उपशम श्रेणीमें चढ़ने के लिए हुआ और फिर अष्टम गुणस्थानमें पहुंच गया। अपूर्वकरण परिणाम होने पर यदि क्षायिक सम्यक्त्व है, पहिले से तो ये डबल काम सप्तम गुणस्थाममें नहीं करने पड़ते। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव भी उपशम श्रेणीमें चढ़ सकता है तब उसकी स्थिति यह रहती है कि सम्यक्त्व तो क्षायिक है, किन्तु चारित्र उसका उपशमक चल रहा है। और वह चारित्रसे तो गिर जायेगा, पर सम्यक्त्वसे न गिर सकेगा। क्षायिक-सम्यग्दृष्टि या द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि सातिशय अप्रमत्तविरत उपशम श्रेणी पर चढ़नेके लिए उपशम परिणाम करता है, इसके बाद जब अपूर्व

करण परिणाम होता है तो वहां ८ वां गुणस्थान हो जाता है। यदि क्षपक-श्रेणी पर चढ़नेके लिये क्षपण परिणाम करता है तो क्षपक श्रेणी के आठवें गुणस्थानमें चढ़ता है। अब इन श्रेणियोंमें आगे बढ़ते जाइए।

जीवस्वरूपमें अपूर्व गुणस्थानका अभाव— इस अपूर्वकरण गुणस्थानमें कर्मोंकी निर्जरा नहीं होने पा रही है, किन्तु ६ बातें विशेष यहां होने लगती हैं प्रतिसमय अनन्तगुणे विशुद्ध परिणामों का होना, पहिलेसे बांधे हुए कर्मोंकी स्थिति जो अधिक पड़ी हुई है उसका घात होने लगना, नवीन कर्म जो बँध रहे हैं उनमें कम स्थितिका पड़ना, बद्ध कर्ममें जो फल देनेका अनुभाग पड़ा हुआ है वह अनुभाग भी कम हो जाना, कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा होने लगना, और छठवां काम है जो अशुभ प्रकृतियां हैं वे प्रकृतियां शुभमें बदल जायें। इतना महान् कार्य इस अपूर्वकरण परिणाममें होने लगता है। अन्यथा भी जब जब इसके अपूर्वकरण परिणाम हो तब तब भी ये ६ कार्य होते हैं। मिथ्यात्वगुणस्थानमें भी जब अपूर्वकरण परिणाम हुआ था तब भी ये ६ काम हुए थे, तथा और-और समयोंमें भी। यह अपूर्वकरणका स्वरूप है।

जीवस्वरूपमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानका अभाव— यह जीव जब अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहुंचता है तब उपशम श्रेणीमें तो चारित्र मोहकी २० प्रकृतियोंका क्रमबद्ध उपशम होता है और क्षपकश्रेणीमें चारित्र मोहनीयकी २० तथा अन्यकर्मोंकी १६, इस प्रकार ३६ प्रकृतियोंका क्षय होता है। वे २० प्रकृतियां चारित्रमोहनीयकी हैं और ये हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। तथा अन्यकर्मोंकी १६ प्रकृतियां ये हैं—नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, दोइन्द्रिय तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, उद्योत, आताप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर।

जीवस्वरूपमें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानका अभाव— इसके पश्चात् यह जीव दशमगुणस्थानमें पहुंच जाता है। केवल सूक्ष्म लोभ ही शेष रहा। उस सूक्ष्म लोभको भी नष्ट करनेके लिए अंतःसंयम प्रकट होता है जिसका नाम सूक्ष्मसाम्पराय है। इस चारित्रके बलसे सूक्ष्म लोभकी वर्गणावोंके पहिले छोटे-छोटे अंश करके, भाग करके जिन्हें कृष्टियां बोलते हैं उन कृष्टियोंके द्वारा इस संज्वलन सूक्ष्मलोभकी स्थितिका और अनुभागका खण्डन किया जाता है। आप समझो जब इसका वर्णन करणानुयोगमें

पड़ें तो ऐसा लगेगा कि बहुत विकट शत्रु है यह कषाय। बहुत कठिन से धीरे-धीरे खण्डन कर बहुत तरहसे इसको नष्ट किया जाना पड़ता है वहां सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान है। ये सब भी जीवके स्वरूप नहीं हैं।

अन्तस्तत्त्वमें उपशान्तमोह व क्षीणमोह गुणस्थानका अभाव— अब यह जीव उपशम श्रेणीमें चढ़ता हुआ उपशांत मोहमें पहुंचता है और क्षायक श्रेणीमें चढ़ता हुआ क्षीण मोहमें पहुंचता है। कहीं १० वें गुण स्थानसे लांघकर १२ वें गुणस्थानमें नहीं जाना पड़ता है। यह संख्याके हिसाबसे बात कह दी जाती है कि १० वें गुणस्थान वाला जीव ११ वें को लांघकर १२ वें में पहुंचता है। वहां लांघनेका सवाल ही नहीं है। उपशम श्रेणीमें सूक्ष्मसाम्परायके बाद है उपशांत मोह और क्षपकश्रेणीमें सूक्ष्म-साम्परायके बाद है १२ वां गुणस्थान, क्षीणमोह। उपशांत मोहमें यथा-ख्यात चारित्र प्रकट हो जाता है, यथाके मायने है जैसा, अब मनमें कह लो आत्माका स्वरूप है तैसा, ख्यात मायने प्रकट हो जाना, इसका नाम है यथाख्यात चारित्र। जैसा आत्माका सहजस्वरूप है उस रूपमें प्रकट हो जाना सो यथाख्यात चारित्र है, निष्कषाय परिणाम है। मोहनीय कर्मोंके उपशममें याने उदय व उदीरणाके अभावमें विशुद्ध परिणाम जगा है सो वह उपशांत है। जो उपशमका काल है वह काल समाप्त हो जावे पर वे सब प्रकृतियां उदयमें क्रमशः आती हैंतब यह यथाख्यातचारित्र छूट जाता है, किन्तु क्षीणमोहमें यथाख्यातचारित्रके विरोधक कषायभावका क्षय हो चुका है, इस कारण यथाख्यात चारित्र नहीं छूटता है। न छूटे। बहुत विशुद्ध आत्मा है, वीतराग है। वीतरागाय नमः आप कहेंगे तो इसमें ११ वां गुणस्थान भी आता है और १२ वां गुणस्थान भी आ जाता है। ये वीतराग प्रभु हैं फिर भी ऐसे स्थान हो जाना यह भी जीव का सहज-स्वरूप नहीं है। जीवका सहजस्वरूप तो चैतन्यभाव है। इस कारण यह भी जीवका स्वभाव नहीं है।

चित्स्वभावमें सयोगकेवली व अयोगकेवली गुणस्थानका अभाव— यों ही १३ वां गुणस्थान जहां पर अनन्त चतुष्ट उत्पन्न हुए है, जो प्रभु कहलाते है, जिनकी पूजामें भव्यजन निरत रहा करते है, ऐसे आत्म-विकासका भी पद प्राप्त कर ले, फिर भी जीवका सहजस्वरूप न होनेके कारण अर्थात् सहजशक्ति रूप भाव नहीं है, वह एक विकास है। साथ ही योगका अभी सम्बन्ध है इस कारण यह तेरहवां गुणस्थान भी मै नही हूं। अभी तो पर्यायमें भी नहीं हूं, पर होऊँगा, ऐसी स्वीकारता करके यह ज्ञानी कह रहा है कि यह गुणस्थान भी मैं नहीं हूं। ऐसे ही योगका अभाव

हो जाने पर अर्थात् निर्वाणकी पूर्ण तैयारीके सहित रूप यह अयोगकेवली गुणस्थान भी मैं नहीं हूं।

अन्तस्तत्त्वमें गुणस्थानके प्रतिषेधका उपसंहार-- इस तरह यह परमार्थप्रतिक्रमणका उद्यमी संत अपने आपके सम्बन्धमें ऐसा स्वच्छ ज्ञानप्रकाश पा रहा है जहां यह कहा जा सकता है कि यह संत यह आत्मतत्त्व गुणस्थानरूप भी नहीं है, इस प्रकार यहां तक निःपेक्ष और सापेक्ष श्रद्धा और चारित्रगुणके विकासरूप स्थानका भी इस अंतस्तत्त्वमें अभाव बताया गया है।

आत्मतत्त्वमें जीवस्थानोंका अभाव— जीव स्थान १४ प्रकारके बताये गए हैं—बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, बादरएकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रियपर्याप्त, सूक्ष्मएकेन्द्रिय अपर्याप्त, द्वीन्द्रियपर्याप्त, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, त्रीन्द्रियपर्याप्त, त्रीन्द्रियअपर्याप्त, चतुरिन्द्रियपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, असंज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्त असंज्ञीपंचेन्द्रिय अपर्याप्त, संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्त, संज्ञीपंचेन्द्रिय अपर्याप्त। इनका दूसरा नाम जीव समास भी है। इस जीवस्थानमें व्यञ्जनपर्यायकी मुख्यता है। क्या जीवका बादर होना या बादर शरीर बनना जीवका स्वभाव है अथवा एकेन्द्रिय आदिक होना जीवका स्वभाव है या पर्याप्त अपर्याप्त बनना जीवका स्वभाव है? ये कोई भी जीवके स्वभाव नहीं हैं। जीव तो इन जड़ प्रपञ्चोंसे परे अंतरंगमें नित्यप्रकाशमान् अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूप है; इस मुझ चैतन्यस्वरूपके ये कोई भी जीवस्थान नहीं हैं। इस प्रकार परमार्थप्रतिक्रमणके प्रसंगमें निज परमार्थस्वरूपकी स्वच्छता निरखने वाले ज्ञानीपुरुष अपने आपको केवल निज स्वरूपास्तित्वमात्र निरख रहे हैं।

पर्याय स्थानोंका अकर्तृत्व— मैं न गुणस्थानरूप हूं, न मार्गणास्थानरूप हूं और न जीवस्थान रूप हूं, यह तो हुआ अहंबुद्धि का निषेध। अब इसके बाद यह बतला रहे हैं कि मैं इन रूपों तो हूं ही नहीं, साथ ही मैं इन सबका करने वाला भी नहीं हूं। मैं चित्स्वरूप हूं, जो अगुरुलघुत्व गुणके कारण अर्थपरिणमन होता है उस अर्थपरिणमन का भी मैं कर्ता क्या, वह तो हूं ही नहीं। वस्तुका स्वरूप है, उसमें द्रव्यत्व गुणके कारण वस्तुके स्वभावके अनुरूप विशुद्धपरिणमन चलता ही रहेगा, मैं इन पर्यायोंका कर्ता नहीं हूं। उक्त पर्यायोंमें शुद्धपर्यायोंको भी बताया गया है। उन शुद्धपर्यायोंका भी मैं कर्ता नहीं हूं। करना क्या, पदार्थ हैं और उनके स्वरूपसे उनका परिणमन हो रहा है। कर देना तो वाञ्छापूर्वक करनेको कहते हैं। करनेके प्रसंगमें वस्तुतः कोई जीव अन्य पदार्थोंका

कर्ता नहीं है, किन्तु वाञ्छामें करनेका विकल्प आया, इस कारण कर्ता कहा जाता है। मैं इन किन्हीं भी परिणमनोंका कर्ता नहीं हूं।

पर्यायस्थानोंका अकारयितृत्व— इन परिणमनोंका कर्ता तो हूं नहीं। साथ ही इन परिणमनोंका कराने वाला भी नहीं हूं। कराने वाला मैं तब कहलाऊँ जब इन पदार्थोंके परिणमन का फल मुझे प्राप्त हो। लोक में जितने भी पदार्थ हैं और उनका जो कुछ भी परिणमन होता है उन सब परिणमनोंका फल वह परिणमयिता ही प्राप्त किया करता है, दूसरा नहीं। वास्तवमें फल वह है जो वस्तुमें उस परिणमनके कारण उसी समय मिले। परिणमनका परमार्थ फल यह है कि वस्तुकी सत्ता बनी रहे। चैतन्यतत्त्वमें इस बातको निरखो कि चेतनकी परिणमनका भी परमार्थतः फल यह है कि उसका सत्त्व बना रहे। और इससे आगे चलकर देखा तो चूँकि यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, अतः आनन्दसे भी इसके प्रयोजन का सम्बन्ध है। इसके परिणमनका फल आनन्दगुणका किसी न किसी प्रकारका विकास होना है सो वह फल भी मेरे परिणमनका ही मुझमें है।

जीवस्थानादिकोंके अकारयितृत्वका कारण— जीव जो कुछ भी करता है उसका फल यह तुरन्त पा लेता है। ऐसा नहीं है कि आज काम करें और फल वर्षों बाद मिले अथवा कुछ मिनट या सेकेन्ड बाद मिले। जिस समय यह परिणाम करता है उसी समय इसे फल मिल जाता है। औपचारिक फलकी बात अलग है जिस मनुष्यने तपस्या की उस तपस्या में शुभ परिणाम हुए, देवगतिका बंध हुआ तो अब देवगतिका फल उसे वर्षों बाद मिलेगा। जब मरेगा, देव बनेगा तब वर्षों पहिले की तपस्याका फल मिलेगा। यह औपचारिक कथन है और निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक जो बात बन गयी उसका कथन है। वस्तुतः तपस्या करते समय इस जीव ने अपना जो भाव बनाया उस भावके फलमें शांत होना चाहे या अशांत होना चाहे तो जो कुछ भी उस समय हो रहा है वही फल उसे मिल रहा है। कोई पुरुष शुभोपयोगका परिणाम करे तो उस शुभोपयोगके परिणाम में जो उसने चैन माना है, जो उस समय उसके आनन्दगुणका परिणमन हो रहा है वही उसका फल है। इसने अपने परिणामका फल तुरन्त पा लिया।

कारकोंसे प्रयोजनकी अभिन्नता— अभी तो देखो बताया गया है कि हिंसाका परिणाम करने वाले पुरुषने हिंसाका परिणाम तुरन्त पाया। उस समय जो विकार हुआ, जो आकुलता हुई वही उसका फल है। तो तुरन्त भोग लिया एक बात, दूसरे औपचारिक और निमित्तनैमित्तिक

बात भी देखो तो यहां तक हो जाता है कि हिंसाका परिणाम करने वाला पुरुष हिंसाका फल पहिले भोग लेता है और चाहे हिंसा पीछे कर सकेगा। मानो जैसे किसी पुरुषके मनमें अपने माने हुए शत्रुकी जान लेनेका भाव है कि मैं उस शत्रुकी जान खत्म कर दूं ऐसे परिणामका बंध तो तुरन्त हो या और ऐसी स्थितिका बंध हो गया कि दो चार दिन बाद ही कहो उसका फल मिल जाय। चाहे वह मार सके १० वर्ष बाद, पर हिंसाका परिणाम करने से फल उसी समय मिल गया। तो फल पहिले भोग लिया और घात बादमें किया जा सका। वस्तुतः तो ऐसा नहीं है कि भाव पीछे हो, फल पहिले मिले। जिस कालमें भाव है उसी कालमें फल मिल जाता है।

परोपकारकी चेष्टामें भी सचेष्टकी फलयुक्तता— हम परोपकारका भाव करें तो इस भावके करते ही यों जानना चाहिए कि उसी कालमें हमें फल मिल जाता है। परके उपकारके समयमें जो विचार उठा, शुभभाव हुआ उस शुभ भावके फलमें जो आनन्दका परिणमन हुआ वह तो उसी समय पा लिया ना। शुद्ध विचारका जो आनन्द है वह आनन्द विषय-भोगोंमें भी नहीं है। पंचेन्द्रियके भोग भोगनेमें भी यह आनन्द नहीं है जो आनन्द एक शुद्ध ज्ञान बनाये रहनेमें है। तो जब जो पदार्थ जैसा परिणमन करते हैं उस परिणमनका फल वह दूसरा पदार्थ तुरंत ही पा लेना है। जब अन्य पदार्थोंके परिणमनका प्रयोजन मुझे नहीं मिलता है तो मैं कैसे कह सकूँ कि मैं परपदार्थोंका कराने वाला हूं। न तो मैं पर पदार्थके परिणमनका करने वाला हूं ? और न परपदार्थोंके परिणमनका कराने वाला हूं।

परतत्त्वोंके अनुमोदकत्वका अभाव— इसी प्रकार उन पदार्थोंको, उन पर्यायोंको जो भी कर रहा हो, वे पदार्थ स्वयं ही जिनका कि परिणमन हो रहा है उन परिणमनोंको करते हुए उन पदार्थोंका अनुमोदन करने वाला भी मैं नहीं हूं। एकत्व भावनाका बहुत बड़ा ममत्व है। यह जीव अपने एकत्वस्वरूपकी दृष्टि छोड़कर परपदार्थविषयक नाना कल्पनाएँ बनाकर मुफ्त ही दुःखी हो रहा है। अरे परजीवोंका उपकार तो अपनी शांतिके लिए किया जाता है। कहीं हठ करके अथवा किसी परके कामके लिए कमर कस कर उपकार करनेकी वृत्ति वस्तुतः नहीं हो सकती है। यदि कोई ऐसा तो उसका अर्थ समझना चाहिए कि अपने कषायकी पुष्टि करने के लिए परका उपकार कर रहे हैं यहां।

परोपकारके प्रयोजन— परके उपकार करनेके दो ही तो प्रयोजन

हैं—अपने कषायोंकी पुष्टि करना अथवा अपने आपमें शांति प्राप्त करना। परोपकारमें शांतिका ध्येय तो इस तरह पूर्ण होता है जीवको पूर्ण वासनावोंके कारण इतनी कायरता और अशक्ति है कि इन विषय कषाय भोगोंकी बात जल्दी घर करती है और जो हितकी बात है ज्ञान वैराग्यका मर्म है वह इसके उपयोगमें प्रवेश नहीं कर पाता है। ऐसी स्थितिमें रहने वाले इन पुरुषोंको यह चाहिए कि परजीवोंके उपकारमें अपना उपयोग लगाये तो थोड़ा विषय कषायोंमें, भोगोंके प्रसंगमें उपयोग गंदा तो न रहेगा। यह उसकी स्वरक्षा है और यह शांतिका पात्र बना रहता है, इसके लिए विवेकी पुरुष परके उपकारके प्रवृत्त होता है।

अज्ञानियोंके परोपकारका प्रयोजन— अज्ञानी जन कषायोंके पोषण के लिए परके उपकारमें प्रवृत्त होते हैं। जिनका कषायोंके पोषणका उद्देश्य है उनके परका निरपेक्ष, स्वार्थशून्य उपकार बन नहीं सकता। जिस ध्येयसे परका उपकार करनेके लिए श्रम करना है, उसमें फर्क आ गया, तो उसे यों ही बीचमें छोड़ दिया जायेगा, पर-उपकार नहीं कर सकता। लोकमें अपनी विशेष मान्यता प्रकट करनेका परिणाम हो अथवा लोकमें मेरा नाम रहे, ऐसा परिणाम हो तो वह तो उसका अपराध है। मैं उस पुरुषको किसी दूसरेके साथ ऐसा भिड़ा दूं कि उसकी बरबादी हो जाय, इस ध्येय से कोई किसीकी प्रशंसा करे, मदद करे, सलाहगीर बने तो यह तो अपने कषायोंके पोषने का काम है, यह परोपकारमें शामिल नहीं है।

विविक्तताका पुनर्दर्शन— मैं परका न कुछ कर सकता हूं, न करा सकता हूं और न करते हुएको अनुमोद सकता हूं। यह बात कही जा रही है अपने आपके सहज स्वरूपका अवलोकन करते हुएकी स्थितिकी बात। यह मैं आत्मा केवल ज्ञानानन्दपुञ्ज हूं, आकाशकी तरह निर्लेप अमूर्त स्वच्छ निजस्वरूप मात्र सच्चिदानन्दमय हूं, इसके अलावा जो कुछ भी अलाबला लगी हैं वे सब परनिमित्तके योगमें अपने आपकी आसक्तिसे लगी है, वे सब मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं परको न कुछ करता हूं, न कराता हूं और न अनुमोदता हूं।

अन्यके समर्थनके व्याजसे अपना समर्थन—किसी भी समय, जब मैं किसी अन्य जीवको शाबासी दे रहा हूं तो उस समय भी मैं उसे साबासी नहीं दे रहा हूं, किन्तु जो काम मेरे सत्त्वमें है या जो मेरी इच्छा है उसको पुष्ट करने वाले साधनमें जो निमित्त होता है ऐसे शाबासी देने के बहाने अपने आपके भावको ही शाबासी दे रहा हूं। जैसे राजा या सेनापतिकी

जय बोलते हुएमें वे सिपाही अपने आपकी ही जयकी भावना पुष्ट कर रहे हैं, अथवा पूजा करते हुए भगवानकी जय बोलते हुए भक्त जन अपने ही जयकी भावना और यत्न कर रहे हैं, ऐसे ही प्रत्येक कार्यमें जहां कि हम दूसरों की अनुमोदना करते हैं, समर्थन करते हैं, शाबासी देते हैं, उन कार्योंमें, उन अवसरोंमें, हम अपने आपकी अभिलाषा का समर्थन किया करते हैं। किसी दूसरे जीवको मैं अनुमोद नहीं सकता हूं, यों समस्त परपदार्थोंसे मैं न्यारा हूं, उनका कर्ता हूं, उनका अकारक हूं और उनका अननुमोदक हूं, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व इन समस्त परद्रव्योंसे अलावलासे परे हूं, ऐसा अपने आपको एक स्वरूप निरखने वाले ज्ञानीके परमार्थ-प्रतिक्रमण हुआ करता है।

संकटहारी एकत्वदर्शन— भैया! शान्तिका एक ही प्रमुख उपाय है जब कभी भी कोई संकट आये, विपदा आये फँसाव हो, उलझन हो तो अपने एकत्व स्वरूप पर दृष्टि डालो, सारी उलझनें समाप्त हो जायगी। उलझनें तो उद्दण्डता है, कोई अनधिकार काम करे दूसरोंके बीचमें बढ़ बढ़ करे तीनमें न तेरहमें भिरदंग बजाये डेरामें, ऐसा अपना हाल चाल बनाए तो उसको दुःखी होना ही पड़ेगा। देखो तो मोहकी लीला—यह व्यामोही व्यर्थ ही बीचमें आ धमका। मान न मान मैं तेरा महिमान। कोई परपदार्थ उसे स्वीकारते नहीं है, वे अपने स्वरूपमें ही बने हुए हैं, पर मैं जबरदस्ती उन पदार्थोंके निकट पहुंचकर कहता हूं कि तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूं। अरे दूसरे पदार्थ तो ऐसा अंगीकार करते ही नहीं है किन्तु हठ बना रहा है कि तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूं।

एकत्वस्वरूपकी संभाल— भैया! बड़े प्रेमसे, धर्मानुरागसे यह समझावो कि देखो न तुम कुछ हमारे हो और न हम कुछ तुम्हारे हैं। अगर यह रहस्यकी बात प्रेममय वातावरणकी दृष्टिसे परोपकारी बनकर कहा जाय तो वे लोग मानेंगे नहीं तो लड़ाई होगी। कोई ऐसा कह तो दे घरमें, न तुम हमारे हो और न हम तुम्हारे है, तो कलह मच जायेगा। अरे इतनी ऊँची बात जो उसका भी उद्धार कर दे अपना भी उद्धार करदे ऐसा गूढ़ मंत्र देने का भी अधिकारी वह है जो स्वपर-हितकी भावनासे ओतप्रोत हो अन्यथा तो विसम्बाद बढ़ जायेगा, अनबन हो जायेगी। सबसे बड़े विषादकी बात तो यह है कि हम अपने शुद्ध एकत्वस्वरूपकी संभाल नहीं करते हैं, बाह्यपदार्थोंमें आकर्षित होते चले जा रहे हैं।

उपयोगसे संकटका आय और व्यय— भैया! क्या है संकट, कितने हैं संकट? जोड़ लो। अमुक आदमी मुझसे इतना वैभव...

चाहते हैं, धन मकानका हिस्सा बांट करना चाहते हैं, अधिक लेना चाहते हैं अथवा मुझे मुनाफा नहीं मिल रहा है, टोटा हो गया है, इतना नुकसान हो गया है, लोग रूठते चले जा रहे हैं। बनाते जावो—कितने संकट हैं, पहिले तो सारे संकटोंको जोड़ जोड़कर एक जगह धर लो और फिर धीरे से अपने एकत्वस्वरूपकी दृष्टिरूप आग लगा दो, सारे संकट, वह सारा ईंधन एक साथ सब स्वाहा हो जायेगा। कहां रहे संकट ? जब शरीर ही मैं नहीं हूं, ये रागद्वेप विकार भाव भी मैं नहीं हूं, ये पोजीशन ये भीतरकी कल्पनाएँ ये सब भी मैं नहीं हूं तो मेरा बिगाड़ कहां है, क्या है मेरा बिगाड़ ? ज्ञानीपुरुषमें ही ऐसा साहस होता है कि कदाचित् कोई दुष्ट वैरभाववश नाना प्रकारसे उसके प्राण हरे तो भी यह स्पष्ट झलकता है कि मेरा तो कुछ भी बिगाड़ नहीं है। मैं तो ज्ञानानन्दमात्र हूं। लो यह मैं पूरा का पूरा यहांसे चला, उसे कोई प्रकारका संकट नहीं होता है। संकट तो मोह ममतामें बसे हुए हैं। हम संकटोंसे दूर होनेके लिए विरुद्ध प्रयत्न किया करते हैं। वह क्या उस मोह ममताकी रचना और बनाया करते हैं। दुःख साधन बनानेसे कहीं दुःख टाले भी जा सकेंगे क्या ? सोच लो।

निःसंकट एकत्वदर्शन— उन सब संकटोंसे तारने वाला एक यह परम चिंतन है कि मैं न किसी अन्य पदार्थरूप हूं, न किसी पदार्थका कर्ता हूं, न कराने वाला हूं और न अनुमोदने वाला हूं। मैं तो सबसे निराला सच्चिदानन्दस्वरूप मात्र अपने स्वरूप रूप हूं, ऐसी जहां एकत्वस्वरूपकी भावना जगती है वहां कोई संकट नहीं ठहर सकता। ऐसी संकटहारी भावनाके बलसे यह ज्ञानी संत अपने उपयोगको स्वच्छ बना रहा है, परमार्थप्रतिक्रमण कर रहा है। परमार्थस्वरूपके प्रति जो उपयोग लेप लग रहा है, उन लगे हुए दोषोंको दूर कर देना, हटा देना, क्रांत कर देना, अतिक्रांत कर देना यह है उसका परमार्थप्रतिक्रमण। परमार्थप्रतिक्रमण के बिना इस जीवकी धर्ममें प्रगति नहीं हो सकती है। इस कारण जो दोष अपने लगे हैं पूर्वकालमें उन दोषोंसे भी विविक्त केवल शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र अपने आपको निरखना चाहिए।

णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७९॥

आत्मामें देहका व देहकी अवस्थावोंका अभाव— मैं बालक नहीं हूं, तरुण नहीं हूं, और न बालक वृद्ध तरुण होनेका कारण हूं, न उनका कर्ता हूं न कराने वाला हूं और उनके करने वालोंका अनुमोदन करने वाला भी नहीं हूं। मनुष्योंकी दृष्टि, सर्वाधिक प्रायः अपने शरीर पर रहती है और

विशेषतया अपनेको ऐसा मोहमें अनुभव किया करते हैं कि मैं बालक हूं, वृद्ध हूं और तरुण हूं। इसी कारण शरीरसे सम्बन्धित अन्य मिथ्या आशयोंकी बातें भी करते हैं, जैसे कि कोई प्रतीति रखता है कि मैं दुबला हूं, मोटा हूं, गोरा हूं सांवला हूं, ठिगना हूं, लम्बा हूं आदिक प्रतीति रक्खा करते हैं, किन्तु शरीर और यह आत्मा अत्यन्त भिन्न पदार्थ है और इनमें विलक्षणताके कारण बहुत बड़ा अन्तर है।

आत्मा और देहमें वैलक्षण्य—यह आत्मा तो पवित्र ज्ञानानन्द-स्वरूप है, इसके इस सारस्वरूपका क्या वर्णन किया जाय? सर्वद्रव्योंमें सार आत्माको बताया है। आकाश भी अमूर्त है, पर आकाश न कु जानता है, न कुछ आनन्दका अनुभव करता है, वह अचेतन है। य आत्मा आकाशकी तरह अमूर्त निर्लेप होकर भी जानने और आनन्दम होनेका स्वभाव रखता है। संभावना करो मानो, इस लोकमें सब पदा होते, एक आत्मद्रव्य भर न होता तो सबका होना न होता क्या? सब द्रव्योंमें सारभूत श्रेष्ठ पदार्थ आत्मा है। यह ज्ञानानन्दस्वभावके कारण पवित्र है; जब कि यह शरीर नाना अशुचि पदार्थोंसे भरा हुआ है, शीर्ण होता है, खण्ड-खण्ड हो जाता है। कितनी ही बातें हैं जो सब जानते हैं। इस आत्मामें और शरीरमें महान् अन्तर है। तब फिर अपनेको शरीर रूप अनुभवना शरीरकी दशावोंरूप अनुभवना यह विकट व्यामोह है। परमार्थतः मैं बालक नहीं हूं, जवान नहीं हूं और वृद्ध नहीं हूं।

देहोंके रूपक—जीवनके आदिके कुछ समयको मान लो, जैसे जीवनका शुरूका ५ वां हिस्सा तक बालकपन जैसा रहता है, वह एक शरीरकी चढ़तीका दिन है। बालक प्रायः लोगोंको सुन्दर जंचा करते हैं। मनुष्यका बालक हो वही नहीं, किन्तु पशु पक्षी और पेड़ोंका बालक भी सुन्दर लगता है। पेड़ोंमें अभी नीमके पेड़को छोटी अवस्थामें देखो कितने सुन्दर आकारका रहता है? ऐसा लगता है जैसे मानो सजीधजी छतरी रखी हो और जब बड़ा हो जाता है, बूढ़ा हो जाता है तो उसकी शकल देखो तो उतनी अच्छी नहीं रहती है। चढ़ती हुई स्थिति बाल्यपन कह-लाती है और चढ़ी हुई स्थिति जवानी कहलाती है और ढली हुई स्थिति बुढ़ापा कहलाती है। आत्मामें यह चढ़ाव उतार नहीं है। ये आहार वर्गणाके स्कंध शरीररूप परिणत हुए हैं। जैसे आयु गुजरती है वैसे ही यह शीर्ण हो जाता है। इसी कारण इसका नाम शरीर है। जो शीर्ण होनेके लिए है उसको शरीर कहते हैं। मैं इन देहोंरूप नहीं हूं।

जीवमें वयःकृत विकारोंका अभाव— शरीरकी ये अवस्थायें तीन प्रकारकी हैं। ये मनुष्य और तिर्यञ्चोंके हुआ करती हैं। देव और नारकियोंके बुढ़ापा क्या? यद्यपि वैसे अन्तमुहूर्तके अन्दर बालपन देवोंके भी रहता है। समझो कुछ मिनटोंका समय हो जाता है— ज्यादासे ज्यादा ४८ मिनट मुहूर्तके माने गए हैं। बादमें सारी जिन्दगीभर वे जवान रहते हैं। नारकियोंकी तो बात ही क्या करें— उनकी काहेकी जवानी, काहेका बुढ़ापा और काहेका बालपन? उनके शरीरके खण्ड-खण्ड कर दिये जाते हैं, फिर वे ही मिल जाते हैं। यह अवस्थाभूत वय कृतविकार मनुष्य और तिर्यंचकी पर्यायमें उनके शरीरमें होता है। उस अवस्थाकृत विकारमें उत्पन्न हुई जो बालपन, जवानी और वृद्धावस्था है, और भी अनेक-अनेक प्रकारके भेद लगा लीजिए— मोटे होना, दुबलापना, कोई रंगपना आदि हैं, इस मुझ चित्स्वभावमें नहीं है।

देहविकारके सम्बन्धमें व्यवहार और निश्चयनयका आशय— यद्यपि व्यवहारदृष्टिसे यों ही निरखते हैं तो ये इस जीवके ही तो हैं सब; कहीं काठ मिट्टीके तो नहीं हैं या मुर्दा हो जाने पर फिर इस शरीरकी यह अवस्था तो नहीं होती है। वह व्यवहारनयका अभिप्राय है। जो किसी सम्बन्ध कारण किसीका किसीमें उपचार करना, किन्तु शुद्ध निश्चयनयसे जब अपने आपको देखते हैं कि वास्तवमें मैं क्या हूं? परका निमित्त पाए बिना, परका आधार लिए बिना, परके सम्बन्ध बिना अपने आपका मुझमें जो कुछ है उसे देखना, इसे कहते हैं वास्तविकस्वरूप और शुद्ध निश्चयनयका आश्रय। उस शुद्ध निश्चयनयके अभिप्रायसे मेरेमें ये कोई आस्थाएं नहीं हैं।

जीवस्वरूपमें देहकारणताका अभाव— भैया! मेरेमें ये अवस्थाएँ नहीं हैं और मैं इनका कारण भी नहीं हूं। शुद्ध निश्चयनयसे देखा जा रहा है। वैसे व्यवहारसे यों कह सकते हैं कि जीवका सम्बन्ध न हो तो बालकपन, जवानी, बुढ़ापा बने कैसे? इसलिए व्यवहारनयकी दृष्टिमें भले ही यह कारण माना जाए जीव, किन्तु शुद्ध निश्चयनयके अभिप्रायसे जिसका जो परिणमन है, उसका वही पदार्थ कारण होता है, अन्य पदार्थ करता नहीं है। यह शरीरमें बालपन, जवानी और बुढ़ापेका जो उदय चलता है, यह शरीरमें ही रहने वाले स्कंधोंके कारण चलता है। जैसे यह शरीर जीर्णशीर्ण हो जाता है— ऐसे ही ये किवाड़ आदिक भी देखो १०० वर्षमें ही घुन जाते हैं, बदबाद हो जाते हैं। यहां कुछ इतनी विशेषता जरूर है कि शरीरके पुद्गलके कारण तो स्याद है ही, पर जीवका भी

सम्बन्ध है और जीवके साथ आयुकर्म लगा है। यह जीव इस शरीरमें कितने समय तक रहेगा, यह आयुकर्मके निमित्तसे निर्णय किया गया है। तब वह उस आयुके मुताबिक शरीरकी सीमा बन गयी कि अब इतने समय तक इसकी चढ़ती हुई स्थिति रहेगी, इसके बाद इसकी ढलती हुई स्थिति रहेगी। कुछ भी हो, देह व देहकी अवस्थारूप मैं नहीं हूं।

विवेकी जीवमें शोकका अनवकाश— इस शरीरकी स्थिति देखकर किसी प्रकारकी चिंता और शोक करना मूढ़ता है। मैं शरीररूप नहीं हूं, तब यह शरीर रहे अथवा चला जाए, कैसी भी स्थिति प्राप्त हो, इस शरीर की स्थितिसे मेरे आत्मामें हानि नहीं होती है। आत्मा है ज्ञान और आनन्दस्वरूप। शांति, संतोष, आनन्द मेरे ज्ञानबल पर निर्भर है, शरीर की स्थिति पर निर्भर नहीं है। हां, थोड़ा निमित्त आलम्बन है, शरीर दुर्बल हो या वृद्ध हो तो यह आत्मा उस समय अज्ञानवश अपनी ओरसे और कल्पनाएं बनाकर अपने दुःख बढ़ा लेता है। यदि शरीरकी इस स्थितिके कारण क्लेश हुआ करता होता तो सभी वृद्धोंके एकसा क्लेश होना चाहिए। कोई ज्ञानी संत है, उसका शरीर अतिवृद्ध भी हो जाए तो भी ज्ञानबल बना है; इस कारण वह अपने मनमें प्रसन्न रहा करता है।

जीवमें शरीरके कर्तृत्वका अभाव— यह शरीर मैं नहीं हूं और इस शरीरका कारण भी मैं नहीं हूं। यहां तक दो बातें कही गयी हैं। तीसरी बात यह समझो कि मैं इन शरीरोंका कर्ता भी नहीं हूं। क्या मैंने अपना शरीर बनाया, कब बनाया, कहां बनाया? जहां ईश्वरको सृष्टिका कर्ता माना, जब वहां यह शंका की जा सकती है कि ईश्वरने इस शरीरको कैसे बनाया, कब बनाया, कहां बनाया, किस ढंगसे बनाया, उस ईश्वरके हाथ पैर कैसे चलते हैं? तब वहां जैसे लोग यह उत्तर दिया करते हैं कि ईश्वर की मरजी जब होती है, तब यह शरीर बन जाया करता है। उसका अर्थ यही तो हुआ कि यह आत्मा ईश्वरस्वभावी है, इस आत्मामें जब मर्जी होती है याने विभाव होता है, विकार होता है तो उसका निमित्त पाकर ये सब रचनाएं स्वयमेव हो जाया करती हैं, हो गयीं, हो जावो, पर इसमें मेरा कर्तृत्व क्या है, मैंने क्या किया इन परपदार्थोंमें? मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, केवल अपने गुणोंका परिणमन ही कर सकता हूं।

जीवमें शरीरके कारयितृत्वका अभाव— मैं इस शरीरका करने वाला नहीं हूं, इसी प्रकार इस शरीरका कराने वाला भी नहीं हूं अर्थात् शरीरको कोई बनाता हो और मैं उसे प्रेरणा करता होऊँ कि तुम बनावो तो ऐसा भी कुछ नहीं है। जैसे कोई किसीसे पैसल बनवावे और वह

दूसरा किसीसे बातें कर रहा हो तो कहते हैं कि अजी, इस बातको छोड़ो, हमारी पेंसिल बना दो। ऐसी प्रेरणा भी करने वाले हम नहीं हैं कि भाई हमारा शरीर जल्दी बनाओ, हम अभी विग्रहगतिमें पड़े हुए हैं। कोई मां बापसे भी ऐसा नहीं कहता कि हमें जल्दी अंगोपांग करो, हम अभी विग्रहगतिमें फिर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि कराने वाला वह कहलाता है, जिसे कार्यका प्रयोजन मिले। यह शरीर मिला, किन्तु इस शरीरका प्रयोजन मुझे नहीं मिल रहा है—किसी भी रूपमें हो, पर शरीरके परिणमनका फल इस शरीरको ही मिल रहा है। इस शरीरमें रहने वाले जो मूलस्कंध हैं, इनका सत्त्व बना हुआ है। शरीरके परिणमनका प्रयोजन भी इस शरीरको मिलता है, मुझे नहीं मिलता है; इस कारण भी मैं शरीर कराने वाला भी नहीं हूं।

आत्मामें शरीरके व शरीरकर्तावोंके अनुमोदकत्वका अभाव— अच्छा, शरीरका कराने वाला भी न सही, किन्तु शरीरका व शरीरके कर्तावोंका अनुमोदक तो मैं हूं ना? नहीं-नहीं, मैं शरीरका अनुमोदक भी नहीं हूं और शरीरका करने वाला मान लो कोई हो तो, मैं उसका अनुमोदक भी नहीं हूं। हो ही नहीं सकता अनुमोदक। कोई शंका कर सकता है कि शरीरकी अनुमोदना करने वाले तो सभी मनुष्य, सभी पशु दिख रहे हैं। शरीर तगड़ा हो, मोटा हो और देख देखकर खुश हो रहे हैं, यह अनुमोदना नहीं है तो और क्या है? हां खूब मैं पुष्ट हो गया हूं, शाबासी भी देते जाते हैं तो यह अनुमोदना ही तो है। अरे! अनुमोदना तो है, पर वास्तवमें वह शरीरकी अनुमोदना नहीं है। शरीर भिन्न द्रव्य है, यह मैं आत्मा भिन्न पदार्थ हूं, जो कुछ भी भाव मैं कर सकता हूं तो उसका आधार लक्ष्य मैं ही हो सकता हूं, उसका प्रयोग दूसरे पर नहीं हो सकता। वस्तुके स्वरूपमें ही ऐसी अनियमितता नहीं है। मैं उस समय भी जब कि शरीरको देखकर खुश हो रहा हूं, उस समय भी शरीरको नहीं अनुमोद रहा हूं, किन्तु शरीर मैं हूं, शरीरसे मेरा बड़प्पन है, शरीरसे लाभ है आदिक जो मुझमें परिणाम बनते हैं, उन परिणामोंसे लगाव रक्खा है, उस निजपरिणामनका अनुमोदन कर रहा हूं, मैं अन्य पदार्थोंका अनुमोदन कर ही नहीं सकता हूं—ऐसा मैं इस शरीरसे अत्यन्त निराला आत्मतत्त्व हूं।

मोहमें व्यर्थकी परेशानियां— भैया, इस मोही जीवको बड़ी परेशानी है इस जिन्दगीमें भी और मरते समय भी, नाना प्रकारकी परेशानियां हैं; किन्तु वे सब परेशानियां एक मोहभाव; ममत्वभाव, अहंकारभाव

के करने पर ही आश्रित हैं। मोहममता न हो तो एक भी परेशानी नहीं है और देखो दूसरोंके लुट पिटने पर ये मूढ़ हँस भी लेते हैं, मजाक भी कर लेते हैं, परव्यामूढोंको यों दिखता है कि देखो यह बिना मतलब मोह में पड़ा हुआ है उन्हें दूसरेकी बुराई स्पष्ट झलकमें आती है, पर खुद क्या कर रहे हैं, खुदकी क्या परिणति बन रही है उस पर स्पष्ट झलक नहीं आ पाती है। साधारणजन भी दूसरेके मोह पर हँसा करते हैं। देखो तो बिना प्रयोजन कितना तीव्र मोह है, कैसा दिमाग है, न करे यह ऐसा तो इसका क्या बिगाड़ है ? यह तो खुश है, प्रसन्न, बड़ा है, सारी बातें ठीक हैं पर क्यों किया जा रहा है यह मोह ? ऐसा दूसरे तो दिखता है, किन्तु अपना नहीं दिखता है।

खुदकी बेखबरीका एक दृष्टान्त— जैसे किसी जंगलमें आग लग रही है। उस जंगलमें एक मनुष्य था वह पेड़पर चढ़ गया बहुत ऊँचे। उस जंगलमें चारों ओरसे आग लग रही थी। पेड़के ऊपर खड़ा होकर देख रहा है, खुश हो रहा है अथवा जान रहा है कि देखो वह पशु मरा, देखो वह जानवर मरा, यह मरनेको खड़ा है, अब इसके आग लगने वाली है चारों ओर निरख रहा था इस तरह, पर स्वयंकी यह खबर नहीं है कि सब ओरकी बढ़ती हुई यह आग इस पेड़में भी लगेगी और मुझे भी भस्म करेगी ? मेरा कहां अस्तित्त्व रहेगा ? अपनी सुध उसे नहीं है, ऐसे ही इन मोही मानवोंको पराई बात तो दीखती है पर अपनी विडम्बना नहीं दीखती है। कहते हैं कि दूसरेके आंखकी फुल्ली भी दिखती है पर अपनी आंखका टेंट भी नहीं दिखता। यों ही दूसरेकी विडम्बनाएँ तो इसे दिखती हैं पर अपनी बेवकूफी, अपनी मूढ़ता, अपना मोह इसे नहीं दिखता है।

मोहकी कल्पित चतुराईका व्यामोह और वास्तविक सावधानी— भैया ! जिसके मोहका जो विषय लगा है उसे उस विषयमें ऐसी चतुराई जंचती है कि इसे तो यथार्थ ठीक करना ही चाहिए ऐसा नीतिमें शामिल होना सा दिखता है औरोंका तो दिखता है कि इसका मोह बिना कामका है। अरे जैसे अन्यकी ये मोहकी बातें बिना कामकी हैं ऐसे ही अपने आपकी वे सारी बातें जो निज ज्ञायकस्वरूपका आलम्बन छोड़कर ज्ञायकस्वरूपके अतिरिक्त अन्य तत्त्वोंमें ? परपदार्थोंमें, परभावोंमें जो उपयोग फंस रहा हो वह सब आपकी विडम्बना हैं, और इस जीवको क्लेशगर्तमें पटकने वाली हैं। ये सारी आफतें जीवनमें इस शरीरके मोहसे लग गयी और मरते समय भी जो संक्लेश होते हैं, दुःखी होकर मरण होता है उसका भी कारण शरीरका मोह है अथवा जिन्हें अपना मान रक्खा था, ऐ

परिवार धन सम्पदा इन सबका मोह संक्लेशका कारण होता है। साव-धानी इसे ही कहते हैं कि मरने से पहिले ही अपनेको इन सब समागमोंसे भिन्न जानें, अपना न जानें, यह बुद्धिमानी बना ले अन्यथा मरण तो सब पर आयेगा। जीवनमें यह बुद्धिमानी न बन सकी कि समागममें रहते हुए भी ये समस्त पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, अत्यन्त पृथक् हैं ऐसी दृष्टि न बन सकी तो दुःखी होने कोई दूसरा न आ जायेगा। खुदको ही दुःखी होना पड़ेगा।

परमार्थजागरण— यदि खुदको ये मरण क्लेश अभीष्ट न हो, जीवन की विडम्बनायें अभीष्ट न हों तो अभीसे चेतियेगा, समस्त पदार्थोंको भिन्न और असार श्रद्धामें बना लीजियेगा तो मरणकालमें भी वह क्लेश न होगा और जीवन भी शान्त रहेगा। मैं शरीररूप नहीं हूं, शरीरका कारण नहीं हूं, शरीरका कर्ता नहीं हूं, शरीरका कराने वाला नहीं हूं, और शरीर के करने वालेका अनुमोदन करने वाला भी मैं नहीं हूं— ऐसा मैं सबसे अत्यन्त विविक्त चित्स्वभाव मात्र हूं, ऐसी दृष्टि हो जाया करती है जिस पुरुषके वह पुरुष पूर्वकृत सभी अपराधोंसे दूर हो जाता है और परमार्थ प्रतिक्रमण उसके हो जाया करता है। उसके इस परमार्थप्रतिक्रमणके प्रतापसे यह आत्मा अपनेको शुद्ध स्वच्छ अनुभव करता है, यही निर्वाण का मार्ग है।

णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८०॥

दोषोंका प्रतिक्रमण— मैं राग नहीं हूं, द्वेष नहीं हूं, मोह नहीं हूं और रागद्वेष मोहका कारण भी नहीं हूं, उनका कर्ता भी नहीं हूं, कराने वाला भी नहीं हूं और उनको करते हुए जो कोई भी हों उनका अनुमोदक भी नहीं हूं। परमार्थ प्रतिक्रमणका उपासक अपने सहज परमार्थस्वरूप को निरख रहा है जिस स्वरूपके निरखनेसे परमार्थप्रतिक्रमण हो ही जाता है। जो विभाव लग चुका था, जो द्वेष किया गया था उस द्वेषका प्रतिक्रमण किया जा रहा है याने उस द्वेषको दूर किया जा रहा है।

प्रतिक्रमणके संबंधमें एक जिज्ञासा— भला बतलावो तो सही कि, ये रागादिक दोष जिस क्षणमें लगे थे वे तो स्वतः ही उस क्षणमें लगकर फिर नहीं रहे, फिर दूसरे रागद्वेष आये। रागद्वेषादिक पर्यायें अपने समयमें होकर अगले समयमें विलीन हो जाते हैं और अगले समयमें दूसरे रागद्वेष पर्याय हो जाते हैं। एक विवक्षित रागपर्याय चिरकाल तक नहीं रहता। वह परिणमन है, अपने समयमें हुआ बादमें नहीं रहा। अब

उसका प्रतिक्रमण क्या करना, जो है ही नहीं, अब उसे दूर क्या करन
रहा ? और जब हो गया तब हो चुका, अब उसे दूर क्या करना ? फिर
प्रतिक्रमण कैसा ?

उक्त जिज्ञासाका समाधान— प्रतिक्रमण पूर्वकृत दोपका यों है कि
जो दोप लग चुका है उस दोषके प्रति यदि यह परिज्ञान न रहे कि मैं तो
दोपरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूं तो जो दोप लगा था वह तो उस समय
लगा ही था, किन्तु अब परमार्थस्वरूपके परिज्ञानके अभावमें उसके
संस्कार रहनेके कारण उसही तरह दोप निरन्तर लगते चले जायेंगे।
इसलिए आवश्यक है कि जो दोप पूर्व कालमें लगा था उस दोपका प्रति-
क्रमण किया जाय। वास्तविक बात तो यों है। अब निमित्तनैमित्तिक योग
पूर्वक औपचारिक कहनेका जो प्रयोजन है, जिस लिए प्रतिक्रमण किया
जा रहा है वह भी देखो। जो दोष पूर्वकालमें लगा था उसही कालमें उस
दोष लगनेके ही समयमें कर्मबंध हो गया, और वे बद्धकर्म सत्त्वमें पड़े
हुए हैं जिनका विपाक उदयावलिमें मानों वर्तमानकालमें आ रहा है।
अब उस लगे हुए दोषका प्रतिक्रमण करनेसे ऐसी पद्धति बनती है कि
उस काल बांधे हुए कर्मका उदय फल न हो, उदयक्षणसे पहिले ही संक्रांत
हो जाय, उसही क्षण जो अनुभागमें निर्णीत हो गया था वे सब प्रतिक्रान्त
हो जाते हैं, लगे हुए दोप अब इस योगमें निष्फल हो जाते हैं।

प्रतिक्रमणके सम्बन्धमें परमपुरुषार्थ— प्रतिक्रमणके सम्बन्धमें
पुरुषार्थरूप बात यह है कि सर्व पर और परभावोंसे भिन्न चैतन्यस्वरूप
मात्र निजको निरखना इसही में हो जाता है प्रतिक्रमण। इस पुरुषार्थसे ही
प्रतिक्रमण नहीं हो जाता है, किन्तु यथाख्यात और आलोचना भी परमार्थ
से हो जाती है। वर्तमानमें यह ज्ञानी समस्त रागद्वेषादिक विभावोंसे भिन्न
ज्ञानस्वरूप अपनेको तक रहा है। तो आलोचना तो स्पष्ट हो गयी परमार्थ
पद्धतिमें और इस पुरुषार्थके कारण पहिले बँधे हुए कर्म भी निष्फल हो
गए। कैसे निष्फल हो गए कि पहिले बँधे हुए कर्मोंके उदयका समय तो
वर्तमानमें है ना और वर्तमानमें ही सर्वदोषोंसे भिन्न शुद्धज्ञानस्वरूपका
अनुभवन कर रहे हैं, प्रतीतिमें ले रहे हैं तो इस काल पूर्वबद्धकर्मका उदय
भी निष्फल हो रहा है। प्रतिक्रमण उसे कहते हैं कि पूर्वकृत दोषों को दूर
कर देना, पूर्वकृत दोषोंके कारण जो कर्मबंध हुआ उसका उदय इस वर्तमान
भेदभावनाके कारण निष्फल हो रहा है, तो यह प्रतिक्रमण ही तो हुआ।
और इस ही पुरुषार्थके कारण भविष्य कालमें भी तो फर्क पड़ जायेगा तो
प्रत्याख्यान भी हो गया। यों दोषोंसे रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र

अपने आपको निरखनेसे परमार्थ प्रतिक्रमण हो जाता है।

आत्माके ज्ञान दर्शनगुणके परिणमनमें औपचारिक विकार—यह परमार्थ प्रतिक्रमणका उपासक अपने आपमें चिंतन कर रहा है—मैं न राग हूं, न द्वेष हूं, न मोह ही हूं। रागद्वेष मोह क्या हैं? इनके दो हिस्से करलो राग द्वेष। ये एक विभाग हुए और मोह यह एक विभाग हुआ। रागद्वेष तो हैं चारित्रगुणके विकार और मोह है श्रद्धा गुणका विकार। आत्मामें अनन्तगुण हैं जिनमें चर्चायोग्य, प्रयोजनयोग्य कुछ गुणोंके नाम ले लो। दर्शन, ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र, आनन्द इनके अतिरिक्त क्रियावती शक्ति, योगशक्ति इत्यादि अनन्तगुण हैं, पर इस प्रकरणमें इन पांचोंको ले लीजिए। इनमें जो दर्शनगुण है और ज्ञानगुण है उसका कोई परिणमन संसर्गसे विकृत कहा जाता है। इसके स्वरूपमें विकार नहीं है, जैसे ज्ञान का परिणमन जानना है, हम कैसे ही उल्टे चल रहे हों, खोटी दृष्टिसे, खोटे आशयसे जान रहे हों, बड़े विकल्प मच रहे हों उस कालमें भी ज्ञानका जितना काम है वह तो साफ स्वच्छ है। जितनी उलझनें लगी हैं उनमें ज्ञान का हाथ नहीं है, किन्तु रागद्वेष मोह इन सब गंदगियोंका वहां नाच है। ज्ञानके स्वरूपमें विकार अंकित नहीं है। जो प्रतिभास मात्रकी बात है वह तो ज्ञानका काम है और जो आकर्षण लगा है, विकल्प हो रहे हैं, इच्छा बढ़ रही है ये सब ज्ञानके काम नहीं हैं, ये सब रागद्वेषकी बातें हैं। फिर संसर्गकृत अथवा परिस्थितिवश साधनकृत दर्शन और ज्ञानके भेद किए भी गये हैं। दर्शन चार हैं और ज्ञानमार्गणा ८ हैं। इनकी चर्चा यहां विस्तृत नहीं करनी है।

आनन्द गुणके परिणमन— एक गुण है आनन्दगुण। आत्मामें आनन्द नामकी शक्ति है, जहां तीन परिणमन होते हैं—सुख, दुःख और आनन्द। जहां इन्द्रियों को सुहावना लगे, इस प्रकारका जो आनन्दशक्तिका विकार है उसे सुख कहते हैं और जो इन्द्रियोंको बुरा लगे ऐसा जो आनन्दशक्तिका विकार है उसे दुःख कहते हैं तथा सुख दुःख विकारसे रहित शुद्ध आह्लादस्वरूप अनाकुलतारूप जो आनन्दशक्तिका स्वाभाविक परिणमन है उसको आनन्दपरिणमन कहते हैं। इसकी भी चर्चा इस गाथामें नहीं की जा रही है।

सम्यक्त्व गुण और सम्यक्त्व परिणमन— अब उन पांचों गुणोंमें से दो गुण शेष रहे श्रद्धा और चारित्र। संसर्गकृत समझो, अपेक्षाकृत समझो अथवा साधनकृत समझो, श्रद्धा गुणकी मार्गणा ६ बतायी गयी हैं जिसे सम्यक्त्व मार्गणा कहते हैं। प्राचीन प्रणालीमें इस गुणका नाम

सम्यक्त्वगुण कहा है। इस सम्यक्त्वगुणके कई परिणमन हैं जिनमें एक सम्यक्त्व परिणमन भी है, मिथ्यात्व भी है, मिश्र भी है। तो जैसे आनन्द शक्तिका भी नाम आनन्द है और उस शक्तिका जो शुद्ध परिणमन है उसका भी नाम आनन्द है, इसी तरह जिस श्रद्धा गुणको हम कह रहे हैं उस गुणका भी सम्यक्त्व नाम है और उस सम्यक्त्व गुणका जो स्वाभाविक परिणमन है उसका भी सम्यक्त्व नाम है। सम्यक्त्व मार्गणाके ६ भेद होते हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, मिथ्यात्व, सासादन भाव और मिश्रभाव। श्रद्धागुणके विकासमें विश्वास प्रतीति श्रद्धान् अथवा आशयका विपरीत सही बनना यह कार्य हुआ करता है।

मोहपरिणमनका अन्तस्तत्त्वमें अभाव—जहां इस श्रद्धा गुणका बिलकुल विपरीत परिणमन है, आशय विपरीत हो गया है उसे कहते हैं मोह। लोग सीधे कह देते है कि तुमने अपने लड़केसे बड़ा मोह किया केवल इस बातको देखकर कि बहुत खिलाता है, उसे गोदमें लिए रहता है, पर जिसको देखकर लोग मोह कह देते है वह तो राग है। उस रागकी ओर भीतर जो यह आशय पड़ा हुआ है कि यह मेरा पुत्र है, इससे ही मुझे सुख मिलता है, मिलेगा, ऐसे विपरीत आशयका नाम मोह है। इस मोहके फलित परिणाममें लोकमें मोह शब्द कहनेकी रूढ़ि है। मोह कहते हैं विपरीत आशयको। जिन पदार्थोंका समागम हुआ है वे सब भिन्न हैं, मेरे लिए असार हैं। उनसे मुझमें कुछ आता जाता नहीं। मेरे लिए वे कुछ भी शरण नहीं हैं। इसके प्रति जो विपरीत आशय बनता है कि यह ही मेरा सब कुछ है, इससे ही मेरा जीवन है, इसही मिथ्या आशयका नाम मोह है। यह मोह आत्मामें नहीं होता। मैं तो वह हूं जो अपने स्वरूप सत्त्वके कारण अपने आप अपनेमें नित्य प्रकाशमान् रहता हूं, अंतःप्रकाशमान् रहता हूं। यह मोह मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयसे होता है। इसलिए औदयिक भाव है, नैमित्तिकभाव है। मैं किसी परका सहारा लेकर सत्त्व रखता होऊँ, ऐसा तो नहीं होता। यह मिथ्यात्वभाव तो परके उदयका निमित्त पाकर होता है। मैं मोह नहीं हूं।

चारित्रगुणके विकार—दूसरा विभाग है रागद्वेष। ये चारित्रमोहके उदयसे होते हैं। मिथ्यात्व दर्शनमोहके उदयसे हुआ था जिसने दृष्टिको ही मोहित कर दिया था, बेहोशकर दिया था, विपरीत आशय वहां बन गया था, किन्तु चारित्रमोहके उदयसे यहां चारित्र मोहित हो रहा है, दूषित हो रहा है, यह आत्मा अपने आपके यथार्थस्वरूपमें ही रमता है, यह था इसका चारित्र; यह थी इसकी कला और करतूत। पर हो क्या रहा

है ? इसने अपने आपके घरसे हटकर बाहरमें दृष्टि लगायी है और यह उनको सुहावना और असुहावना मान रहा है, ये हैं चारित्र शक्तिके विकार।

चारित्रगुणके विकारोंमें राग और द्वेषका विभाग—चारित्रमोहके २१ प्रकार हैं। उनमेंसे अनन्तानुबंधी कषाय तो सम्यक्त्व गुणका भी घात करनेमें निमित्त है, इसलिए उसमें सम्यक्त्वघातकी निमित्तता मुख्य समझ लीजिए। क्योंकि जो सम्यक्त्वका घात करता है वह चारित्रका घातक तो है ही, पर जो चारित्रका घात करता है वह सम्यक्त्वका घात कर सके या न कर सके, उसमें ऐसा भाज्यपन है। इन २१ कषायोंमें से उनको संक्षिप्त कर लीजिए तो वे सब क्रोध, मान, माया लोभ—इन चारमें गर्भित हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंमें से क्रोध और मान तो कहलाता है द्वेष माया और लोभ ये कहलाते हैं राग। इस प्रकार नौ कषायोंमें हास्यरति, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ये तो कहलाते हैं राग और अरतिशोक ये कहलाते हैं द्वेष। भय और जुगुप्सा इनमें प्रमुखता तो द्वेष की है, पर यह रागका भी सम्बन्ध रखता है। यों ये समस्त चारित्रके विकार दो भागोंमें बँट गए—राग और द्वेष।

आत्मस्वरूपमें राग द्वेष मोह तीनोंका अभाव—जहां इन्द्रियों को सुहावनापन लग जाय वह तो है राग और जहां असुहावनापन लग जाये उसे कहते हैं द्वेष। ये रागद्वेष मेरे स्वरूप नहीं हैं। मेरा स्वरूप तो अनादि अनन्त अहेतुक नित्य अन्तःप्रकाशमान् ज्ञायकस्वरूप है। इन तीनोंमें से किसी भी रूप में नहीं हूं। यहां पर्यायको दृष्टिमें लेकर नहीं कह रहे हैं किन्तु स्वभाव, स्वरूप, सहज सत्त्वको दृष्टिमें लेकर कहा जा रहा है, क्यों कि परमार्थप्रतिक्रमण परमार्थस्वरूपका आलम्बन करनेसे ही हुआ करता है। मैं इन तीनोंरूप नहीं हूं।

अन्तस्तत्त्वमें रागद्वेष मोहकी कारणताका भी अभाव—मैं इन तीनों रूप नहीं हूं यह तो है ही, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि मैं इन तीनोंका कारण भी नहीं हूं। यद्यपि इन त्रिकारभावोंका आधार मैं हूं। ये विकार कहीं अचेतन पदार्थमें नहीं हो रहे हैं। जो चेतन हैं वहां ही रागद्वेषादिकी तरंगें उठा करती हैं, किन्तु यह मैं ज्ञायकस्वरूप भगवान् आत्मा उन विकारोंका कारण हो जाऊँ तो फिर ये सदा रहने चाहियें। अंतरंगस्वभाव की दृष्टिसे भी यह मैं चित्स्वरूप रागादिक विकारोंका कारण नहीं हूं, किन्तु रागविकाररूप भाव हो अथवा यों समझ लीजिए कि योग और उपयोग अथवा अभेदभावसे यों भी कह लीजिए कि वर्तमान विभावपर्याय परिणत

यह जीव सो उपादान कारण है किन्तु परमार्थस्वरूपकी दृष्टिमें निरखा गया यह शक्तिमात्र मैं कारणकार्यके भेदसे भी रहित हूं। न मुझे कारण कहा जा सकता है और न मुझे कार्य कहा जा सकता है। यों मैं अंतस्तत्त्व, चित्स्वभाव उन रागादि विकारोंका कारण भी नहीं हूं।

सच्चिदानन्दानुभवीका चिन्तन— शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके बलसे अपने आपको सच्चिदानन्दस्वरूप अनुभवकी स्थितिमें इसने जो अनुभव प्राप्त किया था, उस आधार पर यह ज्ञानी चितन कर रहा है कि मेरे सर्वप्रकार के मोह, राग और द्वेष नहीं हैं और न मैं इन राग, द्वेप, मोहका कारण हूं। इसका निमित्तकारण तो कर्मोंका उदय है और उपादानकारण उस योग्यतासे, विशिष्ट संस्कारसे सम्पन्न यह जीवभाव है। यह मै आत्मतत्त्व चित्स्वभाव परमब्रह्म हूं, इन दोपों का कारण नहीं हूं।

राग द्वेष मोहके कर्तृत्वका अभाव— अब यह बतला रहे है कि मैं इन दोषोंका कर्ता भी नहीं हूं। ये राग, द्वेष, मोह योग्य उपादान और योग्य निमित्तका सन्निधान पाकर हो जाते हैं। यह मोही जीव, रागीद्वेषी जीव तत्सम्बन्धी विकल्प करता हुआ भी और परपदार्थोंके सम्बन्धमें यह मैं कर रहा हूं—ऐसा विकल्प करता हुआ भी इन विभावोंको नहीं कर रहा है, किन्तु ये विभाव योग्य परिस्थितिमें होते चले जा रहे हैं, मैं इनका कर्ता नहीं हूं।

परमार्थतः कर्तृत्वका अनवकाश— जैसे रोना और हँसना इनको कोई कर नहीं सकता, किन्तु परिस्थितिमें हो जाते हैं, किसीका प्रोग्राम बनाया जाय कि अब यह इतने बजकर इतने मिनट पर अपने रोनेका प्रोग्राम करे तो यह नहीं हो सकता है, जिसे वास्तवमें रोना कहते हैं। यों तो कोई अपनी कलासे ऐसा रोना दिखा सकता है कि जिसे देखकर लोग रो उठें, पर वास्तविक रोना जो चीज है वह परिस्थितिवश अपने आप हो जाता है। हँसना भी जो वास्तविक हँसना है वह परिस्थितिवश हो जाता है। किसीका प्रोग्राम रखदें कि यह ८ बजकर १० मिनट पर हँसे, ऐसा हँसने का प्रोग्राम करे कोई तो हँसी न आयेगी। भले ही कोई झूठा हँसे और बादमें उस हँसने को देखकर लोग हँसें और उससे वास्तवमें हँसी आ जाय तो वह परिस्थितिवश हँसी आ गयी, किन्तु जब यह करने का भाव रख रहा था तब हँसी न आयी थी। यह एक मोटी बात कही जा रही है। ऐसे ही जानो कि राग, द्वेष, मोह ये सब विभाव परिस्थितिवश जीवमें होते हैं, इनका करने वाला जीव नहीं है। हां, इस दृष्टिसे करने वाला कह लो कि जो परिणमता है वह तो कर्ता कहलाता है और जो

परिणमन है वह कर्म कहलाता है और जो परिणति क्रिया है वह क्रिया कहलाती है। यों भेद डालने पर करना कहलाया जाता है, परन्तु अन्तरमें तो देखो करना होता क्या है? योग्य उपादान और योग्य निमित्तके सन्निधानमें उपादानमें विभावरूप परिणमन बन जाया करता है। मैं इन रागादिक भावोंका करने वाला भी नहीं हूं।

वियोगबुद्धिके कारण कर्तृत्वका अभाव— अब कुछ और अन्तरमें चलो तो अन्तरात्मज्ञानी पुरुषकी बात निहारो। यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष रागादिक विभावोंसे निवृत्त करता हुआ अपना उपयोग रखता है अर्थात् विकाररहित बुद्धि बनाये रहता है। ज्ञानी जीवको किसी भी समय ज्ञान अवस्थामें विभावोंमें संयोगबुद्धि नहीं जगती है। संयोग बुद्धिका अर्थ यह है कि ये विभाव मैं हूं, इस प्रकारकी प्रतीति रखना। सो यह ज्ञानी विकारभावोंको अर्थात् रागादिक भावोंको नहीं प्राप्त हो रहा है। जब विकारमें वियोग बुद्धि करता हुआ किसी हद तक स्वरूपाचरणमें है तो उसे करने वाला कैसे कहा जाय? जैसे कोई पुरुष काम न करता हो किन्तु परिस्थितिवश करना पड़ रहा हो तो करता हुआ भी उसे न करने वाला कहेंगे। क्योंकि अन्तरसे इच्छा, अभिलाषा, प्रतीति उसकी इस ओर नहीं लग रही है। तब यह ज्ञानीपुरुष जिसके कि पूर्वकृत कर्मोदयका निमित्त कर ये रागादिक विकार होते हैं उनमें संसर्ग नहीं करता है, फिर इसे रागादिकका कर्ता कैसे कहा जाय? यह इन विकारोंका कर्ता नहीं है।

स्वभावकी अपरिवर्तनीयताके कारण कर्तृत्वका अभाव— अब इससे और अन्तरमें चलो, मैं यह आत्मा स्वतः अपने स्वरूप सत्त्वके कारण सहजचित्स्वभावमात्र हूं—यह स्वभाव, यह मेरा स्वरूप अनादि अनन्त नित्यप्रकाशमान् है, इस स्वभावको इस स्वभावदृष्टिमें अपरिणामी निर्णीत किया गया है। यह मैं स्वभावमात्र अंतस्तत्त्व फिर करने वाला ही क्या रहा? यों मैं रागद्वेषमोहभावोंका कर्ता भी नहीं हूं।

आत्मस्वरूपमें रागादिकके कारयितृत्वका अभाव— इसी प्रकार मैं तो रागादिक भावोंका कराने वाला भी नहीं हूं। कराने वाला उसे कहते हैं, जो करने वालेको प्रेरणा दे तथा जिसे कार्यका फल मिले, उसे कराने वाला कहते हैं। ये रागादिक भाव होते हैं, इनका करने वाला जो है, वही स्वयं प्रेरणा भी करने वाला हुआ। करने वाला और प्रेरणा देने वाला यह कोई भिन्न भिन्न नहीं है। रागादिकका करने वाला रागादिक योग्य विकारभाव ही है और वह ही अपने आपकी कृतिमें प्रेरणा बनाए रहता है। वैसे प्रेरणा और कर्तृत्व—ये खुद जुदी चीजें नहीं हैं। जब कर्तृत्व ही

नहीं है, केवल होना मात्र है, परिस्थितिवश विकारका भवनमात्र है तो फिर किसी प्रेरणाकी बात क्या कही जाए ? दूसरी बात इसके करने वाले जो विभाव हैं, वे परिणमते रहते हैं।

अतीतकल्प अन्तस्तत्त्वमें कर्तृत्व भोक्तृत्वका भी अभाव—अब यहां यह निरखिए कि उन परिणमने वालोंका प्रयोजन किसे मिलता है ? इन रागादिक भावोंके परिणमनका प्रयोजन इस अशुद्ध अवस्थाको ही मिलता है। स्वभाव तो बंधमोक्षकी कल्पनासे भी रहित निजस्वरूपास्तित्त्वमात्र है। वह कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे रहित है। इस आत्माका न कर्तृत्व स्वभाव है, न भोक्तृत्व स्वभाव है, फिर यह कराने वाला ही क्या? कराने वालेमें भोक्तृत्वकी प्रधानता होती है, करने वालेमें कर्तृत्वकी प्रधानता होती है, पर यह अंतस्तत्त्व, यह परमपारिणामिक भाव शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके बलसे देखा गया कि यह चित्स्वभाव, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्धमोक्ष आदि सर्वप्रकारकी विकल्पनाओंसे विविक्त है—ऐसा यह मैं अन्तस्तत्त्व कराने वाला भी कैसे हो सकता हूं ?

रागादिकके कर्ताओंके अनुमोदकत्वका भी अन्तस्तत्त्वमें अभाव—इस ही प्रकार रागादिक भावोंका अथवा रागादिक भावोंके करने वालेका यह मैं अन्तस्तत्त्व अनुमोदक भी नहीं हूं। इस प्रकरणमें 'मैं' का भली प्रकार निर्णय कर लो कि किस 'मैं' की बात कही जा रही है ? जिस 'मैं' को बताया जा रहा है, उस 'मैं' का स्वरूप समझमें न आएगा तो यह सब वर्णन विरुद्ध जंचेगा और बेकारसा मालूम होगा, किन्तु इस 'मैं' का जो सहजस्वरूप है, उस सहजस्वरूपमें 'मैं' की निरख होने पर यह सब वर्णन सारभूत विदित होगा। अहो ! यह अन्तस्तत्त्व सकल परभावसे विविक्त है। मैं इस स्वरूपको जाने बिना संसारमें रुलता चला आया हूं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप स्वभावतः कृतकृत्य हूं, अपने अगुरुलघुत्व गुणके कारण शुद्ध अर्थपर्यायसे परिणमनका वर्तन करने वाला यह मैं आत्मतत्त्व बाह्यदृष्टिके अपराधके होने पर भी मध्यमें बना हुआ साथ चलता चला जा रहा हूं। यह 'मैं' आत्मा इन रागादिकके कर्ताओंका अनुमोदक भी नहीं हूं।

व्यामोही जीवका संसारपरिभ्रमण— इस जीवलोकने मोहवश इस लोकमें अनन्त परिवर्तन कर परिभ्रमण किया है और इन बाह्य और अन्तरपरिभ्रमणमें इसने यह चाह की कि सारे जगत् पर एकछत्र साम्राज्य बनाऊं। कितनी मूढ़ताकी बात है ? कहां तो यह जीव समस्त पर और परभावोंसे विविक्त निर्मल विशुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप है और कहां असार भिन्न इन समस्त परपदार्थोंकी आशाबुद्धि दृष्टि लगाए हुए रह रहा है।

इसने चाहा कि मैं सारे विश्व पर एकछत्र साम्राज्य करूं। ऐसा मोहरूपी पिशाच इसके पीछे लग बैठा कि अब यह अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिए कोल्हूके बैलकी तरह ज्ञाननेत्र पर मोहकी पट्टी बांधकर इन्हीं पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें गोलगोल, बारबार भ्रमण कर रहा है, चक्कर काट रहा है। जो विषय कल भोगा था, वही आज भोग रहा है, लेकिन जान रहा है कि आज कुछ नवीन काम कर रहे हैं और नवीन नवीन अनेक विषय भोग रहे हैं।

विषयजालमें फंसनेका कारण— भैया! यदि मोहकी पट्टी न बंधी होती इसके ज्ञाननेत्र पर तो इन भोगोंमें आसक्ति ही नहीं हो सकती है। इन भोगोंसे अपना उपभोग अलग कर लेना। जैसे कोल्हूके बैलके नेत्र पर पट्टी बांध देते हैं तेली लोग, जिससे कि उस बैलको यह पता न लगे कि मैं गोलगोल घूम रहा हूं, वह यही जानता रहे कि मैं सीधा चला जा रहा हूं। यदि उसके चित्तमें यह आ जाए कि मैं गोलगोल घूम रहा हूं तो वह चक्कर खाकर गिर जाएगा, चल न सकेगा, इसलिए आंखों पर पट्टी बांध देते हैं। ऐसे ही इस जीवलोकके ज्ञाननेत्र पर मोहकी पट्टी बंधी हुई है, क्योंकि यदि यह जान जाएगा कि मैं भव भवके भोग छोड़ और ऐसे जूठे भोगोंको भोग रहा हूं; जिनको भव भवमें भोगा और इस भवमें भी बहुत काल तक भोगा तो ऐसे जूठे भोगोंको भोग रहा हूं—ऐसा विदित हो जाएगा तो यह उनसे अलग हो ही जावेगा। इस प्रकार यह अज्ञानसे तिरोहित होता हुआ इन विषयोंको दौड़ दौड़कर, उचक उचककर, अपनेको बड़ा चतुर मानकर भोग रहा है।

विषयगर्तमें गिरनेकी शिक्षा देने वाला कुशल प्रिंसिपल— भैया! इतना ही नहीं कि यह विषयजालमें फंस ही रहा है, उन्हें भोग भी रहा है स्वयं और दूसरोंको भोगनेकी कला बताकर यह प्रिंसिपल बन रहा है। सो इस प्रकार इस व्यामोही जीवने अनन्तबार इन भोगोंको भोगा, अनुभव किया, परिचय किया, किन्तु इन सब दोषोंसे विविक्त नित्य अन्तःप्रकाशमान् इस चित्स्वरूपकी याद भी नहीं की, क्योंकि कषायोंके साथ निजब्रह्मस्वरूपको एकमेक कर डाला। जैसे हाथीके आगे हलुवा भी परोस दो और घास भी डाल दो तो उसको यह विवेक नहीं रहता कि मैं इस हलुवेको खाली चखकर तो देखूँ। वह तो घास और हलुवा दोनोंको लपेटकर खा लेता है। यों ही यह अज्ञानी परमार्थतः भोग तो रहा है ज्ञानके परिणमन को, किंतु अज्ञानवश रागद्वेष विकारोंको लपेटकर और इतना ही नहीं बल्कि कल्पनामें रागद्वेषके आश्रयभूत इन बाह्यपदार्थोंको लपेटकर अनुभवन करता

चाहता है।

अन्तस्तत्त्वके परिचयके अभावमें परमार्थप्रतिक्रमणका अभाव—यह अन्तस्तत्त्व खुद ही खुदमें प्रकाशमान् है, लेकिन इस मोहभावके कारण तिरोहित है। सो अपनेको इसने समझा ही नहीं कुछ कि मैं क्या हूं और इतना ही नहीं, जो इस 'मैं' के समझने वाले हैं—ऐसे सन्तपुरुषों की सेवा उपासना संगति भी नहीं की। इस कारण इस व्यामोही जीवने न कभी निजपरमब्रह्म की बात सुनी, न कभी परिचयमें लाया और न ही अनुभूत की। जब तक सम्पूर्ण दोपोंसे विविक्त विशुद्ध निजअन्तस्तत्त्वका परिचय न होगा, तब तक दोष विकार निकल नहीं सकते। परमार्थतः इस अन्तस्तत्त्वका निर्णय होने पर प्रतिक्रमण हो सकता है।

विविक्तताके दर्शन—परमार्थप्रतिक्रमणके उपासक इस ज्ञानी संतने अपने आपको कितना विविक्त निरखा है—न मैं नारकादिक गतिरूप हूं, न मैं किसी मार्गणा गुणस्थान जीवस्थान आदिक रूप हूं, न मैं बालक, न जवान, तरुण आदिक अवस्थावोंरूप हूं, न मैं रागद्वेष मोह विकाररूप हूं और इतना ही नहीं, बल्कि इन सबका मैं कर्ता भी नहीं हूं, कारयिता भी नहीं हूं और अनुमोदक भी नहीं हूं। ऐसे इन कल्पित समस्त कुटुम्ब परिवारों से, चेतन अचेतन परिकरोंसे उपेक्षित होकर इन देहबन्धन, कर्मबन्धन, भाव बन्धन आदिकसे रहित जिस सहज परमब्रह्मस्वरूपका भान रहता है, मैं तो वह हूं।

परमार्थप्रतिक्रमणका आधार निर्विकल्प स्वदर्शन—देखिए इस 'मैं' के बतानेके प्रयोजनसे ही अनेक ऋषि संतोंने यह बात प्रसिद्ध की है कि यह मैं आत्मा सर्वव्यापक एक हूं। इस आत्माकी ही झलक सब जीवोंमें पड़ी हुई है। इस सम्बन्धमें वास्तविकता क्या है? वस्तुतः निजप्रदेशमात्र, ज्ञान और आनन्दका जितनेमें अनुभव हो सकता है, उतने विस्तारको लेकर ये समस्त आत्मा पृथक् पृथक् अपने स्वरूप को रख रहे हैं, किन्तु जब कोई आत्मा अपने इस व्यक्तित्व पर दृष्टि न करके अपने परिणमनों पर दृष्टि न करके केवल अपने सहजस्वरूपको निरख रहा है, तब अपने आपकी स्थिति इससे भी और विशाल होती है। यह अन्तस्तत्त्व न व्यापक है, न अव्यापक है, यह अन्तस्तत्त्व न एक है, न अनेक है। यह अन्तस्तत्त्व मेरे ज्ञानप्रकाशमें है, पर मेरी कल्पनामें नहीं है। ऐसे परमविविक्त शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी उपासनासे तृप्त रहने वाला यह ज्ञानीसंत पूर्वक्त दोषोंका प्रतिक्रमण स्वतः ही कर रहा है। मैं किसी भी दोपरूप नहीं हूं, किन्तु शाश्वत् चैतन्यस्वरूपमात्र धर्मादिक द्रव्योंकी तरह ६ साधारण गुणोंकर

सम्पन्न चैतन्यतत्त्व हूं। इस प्रकारकी दृढ़ भावनासे यह ज्ञानीपुरुष परमार्थ प्रतिक्रमण कर रहा है।

परमार्थप्रतिक्रमणमें विभावविविक्तताका दर्शन— अब इस परमार्थ प्रतिक्रमणके सम्बन्धमें जो आदिके पञ्चरत्नोंस्वरूप गाथाएं चल रही थीं, उनमें से अब अन्तिम गाथामें कषायका प्रतिषेध करते हुए आचार्यदेव परमार्थप्रतिक्रमणकी दिशा बता रहे हैं।

णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहोहं।
कत्ता ण हि कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥ ८१॥

ज्ञानीका केवलस्वरूप प्रतीतिका पुरुषार्थ— परमार्थ सहज आत्मस्वरूपके अवलोकनके बलसे परमार्थ प्रतिक्रमणको करता हुआ यह अंतस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानी संत अपने आपके यथार्थस्वरूपकी प्रतीतिमें चिंतन कर रहा है कि न मैं क्रोध हूं, न मान हूं, न माया हूं और न लोभ रूप हूं तथा न मैं इनका कर्ता हूं, न कराने वाला हूं और न इनका व इनके कर्तावोंका अनुमोदन करने वाला ही मैं हूं।

ज्ञानीका केवलस्वरूपप्रतीतिका पुरुषार्थ— इस अन्तरात्माने निर्लेप निरपेक्ष स्वरूप सत्त्वके कारण स्वतःसिद्ध सनातन अंतःप्रकाशमात्र चैतन्य शक्तिका आलम्बन लिया है और उस स्वभावकी ऐसी प्रतीति कर रहा है कि न मैं कषाय सहित हूं और न कषायरहित हूं। यहां तो यह बताया गया है कि मैं क्रोधादि कषायरूप नहीं हूं, किन्तु साथ ही यह भी समझना कि मैं क्रोधादि कषायरहित भी नहीं हूं तब फिर तीसरी बात क्या है? न मैं कषायसहित हूं और न मैं कषायरहित हूं। तो तीसरी बात और क्या हो सकती है? तीसरी बात तो है ही? वह तीसरी बात नहीं है किन्तु वह पहिले से भी पहिली है, वह है सहजचैतन्यस्वरूप। कषायसहित बोलनेमें तो विकार भावका संसर्ग लगा है यह तो स्पष्ट विदित होता है पर कषायरहित बोलनेमें भी इसने इस अंतस्तत्त्वमें पूर्वकालमें उनके संसर्ग लगा डाले हैं यह ध्वनित होता है। कषाय सहित होनेके कालमें भी यह जीव, यह अंतस्तत्त्व न कषाय सहित है और न कषायरहित है। ऐसे परम विविक्त अंतस्तत्त्वके सम्बन्धमें आज यहां यह कहा जा रहा है कि मैं, क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं हूं यह पूर्ण युक्तियुक्त है।

कषायोंकी चारित्रविकाररूपता— ये चारों कषायें आत्माके चारित्र गुणके विकार हैं। चारित्रगुणका स्वाभाविक विकास आत्मरमण है। जैसा हमारा सहजस्वभाव है, उस स्वभावमें मग्न होना, उस स्वभावरूप निरंतर वर्तना—यह है चारित्रका शुद्ध विकास, किन्तु जीवकी स्वयंकी अशुद्ध

उपादानकी योग्यताके कारण और बाह्यमें क्रोधादिक प्रकृतियोंके उदय अथवा उदीरणाका निमित्त पाकर यह जीव क्रोधादिक कषायोंरूप परिणत हो जाता है। क्रोधादिक कषायोंसे परिणत होने पर वहां आत्मामें, सर्वांग सर्वप्रदेशोंमें वे क्रोधादिक होते हैं।

विकारमें विकारीकी विकारात्मकता— यहां ऐसा नहीं है कि जैसे समुद्रमें ऊपरसे लगता है कि तरंग उठ रही है और समुद्रके बहुत भीतर चलकर विचलताका नाम भी नहीं है, वह ज्योंका त्यों शांत है—ऐसा इस आत्मामें नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक आत्मा तो एक द्रव्य है। एक एक पूर्ण पदार्थ है और वह समुद्र, जितनी बूंदें हैं उन्हें कल्पनामें लाइए, वहां अनगिनती बूंदें हैं, उन अनगिनती बूंदोंका वह एक समूह है। जैसे १०-१० बालक एकके ऊपर एक लादकर यों खेल रहे हों तो चाहे ऊपरके बालक कुछ कर रहे हों और नीचेका बालक शांत पड़ा हो, क्योंकि भिन्न भिन्न बालक हैं ऐसे ही समुद्रमें भी भिन्न भिन्न बूंदे हैं। इस कारण वहां यह हो जाता है कि ऊपर तरंग है, भीतर जलकण बहुतसा निष्तरंग है, किन्तु यहां आत्मपदार्थमें ऐसा नहीं है कि ऊपरसे यह क्रोधादिक कषायोंरूप है और भीतरमें यह शांत परिणम रहा है। क्रोधादिककी स्थितिमें भी जो आत्माको शांत निरावरण निर्दोष आदिक बताया जाता है, वह शक्ति अपेक्षा कही जाती है। स्वभाव मेरा ऐसा है कि स्वभावदृष्टिसे क्रोध होता हुआ भी इस ज्ञानीको क्रोध नहीं है—ऐसा नजर आ रहा है।

क्रोधकषायकी विभिन्नरूपता— क्रोधकषायके अनुभागोंकी रेखासे उपमा दी गई है। क्रोधकषाय ४ प्रकारके होते हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, संज्वलन क्रोध। अनन्तानुबन्धी क्रोध पाषाणरेखाकी तरह चिरकाल तक अपनी वासना बनाये रहता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध खेतको जोतनेसे हलकृत जो गहरी रेखा होती है, उसकी तरह कुछ माह तक (६ माह तक) वासना रखता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध चक्रलीककी तरह कुछ दिनों तक (१५ दिन तक) वासना रखता है। संज्वलन क्रोध जलरेखाकी तरह कुछ सेकिण्डों तक ही (अन्तर्मुहूर्त तक) वासना रख पाता है।

क्रोधकी घातकरूपता व अनात्मरूपता— क्रोधभाव एक विकारभाव है। यह क्रोध आत्माके समस्त गुणोंको फूंक देता है। क्रोधको अग्निकी उपमा दी जाती है। कोई बड़ा परोपकारी और दयालु हो, दूसरोंकी मदद करता हो, किन्तु एक क्रोधका स्वभाव बना हो तो उस क्रोधप्रकृतिसे वे सब

उसके गुण तिरोहित हो जाते हैं। लोग उसका ऐहसान भी नहीं मान पाते हैं। क्रोधको चांडालकी उपमा दी गई है। साहित्यमें क्रोधको चांडाल कहा गया है। क्रोधभाव क्रोधनामक कर्मप्रकृतिके उदय अथवा उदीरणासे प्रकट होता है। क्षमागुणका घात करने वाला क्रोध है। यह शांतिका साक्षात् घातक है। ऐसा विकारभाव क्या मैं हो सकता हूं? साधारण विवेकी भी यह नहीं मान सकता है कि यह मैं आत्मा क्रोधरूप हूं। मैं क्रोधरूप नहीं हूं।

आत्माका वास्तविक बड़प्पन-- मान घमण्डको कहते हैं। जब इस जीवको अपने आनन्दमय ज्ञानस्वरूपका परिचय नहीं होता है, तब अपना असली बड़प्पन इसकी अवलोकनामें नहीं आता। सो भाई असार परतत्त्वों का लक्ष्य करके यहां नकली बड़प्पन मान्यतामें रह जाता है। इसके ही मायने मानकषाय है। वास्तविक बड़प्पन ध्यानमें आये तो मानकषाय रह नहीं सकता। मानकषायकी उल्टी चाल तो निरखिये। अपमान होना अच्छी बात है या बुरी बात है? अच्छी बात है। जीवस्थान चर्चामें आप पढ़ते हैं कि अपगतवेद होना अच्छी बात है या बुरी बात है? अच्छी बात है। अपगतवेद मायने वेद खत्म हो गये। ऐसे ही अपमान हो गया मायने मानकषाय खत्म हो गया, तो अपमानकी अवस्था बहुत ऊँची अवस्था है। जहां मानकषाय अपगत हो गया—ऐसा ऊँचा ज्ञानीसंत ही अपमानकी स्थितिका वास्तविक अधिकारी है।

अभिमानीका अभिमान ही वास्तविक अपमान-- व्यामोही जीवने जो अपना नकली बड़प्पन माना, वही मानकषाय है। एक अभिमानी पुरुष किसी अपनेसे गिरे पुरुषको तुच्छ निरखता है। जैसे पहाड़ पर चढ़ा हुआ व्यक्ति नीचे चलने वाले हजारों लोगोंको कीड़े मकौड़ोंकी तरह निरखता है—ऐसे ही नीचे चलने वाले हजारों पुरुष पहाड़पर चढ़े हुए व्यक्ति को कीड़े मकौड़ोंकी तरह दिखता है। अभिमान करने वालेको विवेकी लोग उल्लू बनाकर रखते हैं। वह जानता है कि ये लोग मेरा कुछ बड़प्पन बना रहे हैं, पर लौकिक पुरुषोंके द्वारा की गयी मजाकको भी वह मजाक नहीं समझ पाता है और अपना बड़प्पन महसूस करता है। यह है अभिमानकी प्रकृति वाले पुरुषकी आंतरिक कहानी।

मानकषायकी विभिन्नरूपता-- मानकषायसे हृदय, उपयोग कठोर हो जाता है। इसी कारण मानकषायकी उपमा कठोर वस्तुसे दी जाती है। मानकषाय संक्षिप्तरूपसे चार भागोंमें विभक्त है--अनन्तानुबन्धीमान, अप्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण मान, संज्वलन मान। अनन्ता-

नुबन्धी मान वज्रकी तरह या पाषाणकी तरह कठोर होता है। अप्रत्याख्यानावरण मान हड्डीकी तरह कठोर होता है, यह अनन्तानुबन्धीसे कम कठोर है, प्रत्याख्यानावरण मान काठकी तरह कठोर बताया गया है। संज्वलन मान हरे पतले घांसकी तरह याने बेंतकी तरह कठोर याने जल्द नम्र होने वाला बताया गया है। यह सब मानकषाय विकारभाव है, विरुद्धभाव है।

मानकषायकी अनात्मरूपता— यह मानकषाय मान नामक कर्मप्रकृतियोंके उदय होने पर व उदीरणा होने पर प्रकट होता है। ये दोनों द्वेषरूप परिणाम हैं। क्रोध तो प्रकट द्वेषरूप है और मान भी इसलिए द्वेषरूप है कि अन्य जीवोंको तुच्छ माने बिना मानकषायका परिणाम नहीं बनता। मैं मानकषायरूप भी नहीं हूं।

विकारकी दुष्प्रकृति व अनात्मरूपता— यह विकारभाव है, औपाधिक है, क्लेशकारी है। खुदकी चीज खुदके विनाशके लिए नहीं हुआ करती है। जो खुदके मिटानेके लिए हो, समझो कि वह खुदकी चीज नहीं है और साथ ही यह भी जानो कि परकी चीज भी अपना विनाश करनेमें समर्थ नहीं होती है। यह विकार एक ऐसा झमेला है कि जिसे न परकी चीज कह सकते हैं, न निजकी चीज कह सकते हैं। तभी यह निर्णय होता है कि यह परपदार्थका निमित्त पाकर होने वाला निजमें एक विकार है। वह विकार किसकी आज्ञामें चले—उपादानकी आज्ञामें चले या निमित्तकी आज्ञामें? विकार बड़ा कृतघ्न है। यहां विकारको आश्रय, आधार, स्थान तो दिया है जीवने, किन्तु यह हुकुम मानता है निमित्तका। निमित्तका उदय होने पर यह प्रकट होता है। उसके निमित्तका अभाव होने पर यह रंजमें घुल घुलकर अपनी जान खो देता है। ऐसा यह निमित्तके प्रति कृतज्ञ बन रहा है विकारभाव और जिसने अपना स्थान दिया है, महल दिया है रहने के लिए—ऐसे इस आत्माका कुछ हुकुम नहीं मानता। यह कषायभाव विकारभाव है। इस रूप मैं कैसे हो सकता हूं?

मायाकी मलिनता— मायाकषाय छल कपट करनेको कहते हैं। मायाकी गन्दगी कहां तक बतायी जाय? मायासे ग्रस्त हृदयमें धर्मका रंच प्रवेश नहीं होता है। यों तो क्रोधग्रस्त, मानग्रस्त पुरुषोंमें भी धर्मका प्रवेश नहीं होता है, किन्तु वहां इतना अवकाश तो है कि जब तक क्रोधकी ज्वाला है तब तक धर्मकी ओर दृष्टि नहीं होती है, पर वह ज्वाला शांत तो होगी। फिर बन जाय यह दूसरी बात है। ऐसी ही मानकी बात है। मानकषाय आ गया कोई मौका पाकर, सभामें, पंचोंमें, किसी वातावरणमें

हो गया, पर उस ऐंठको यह रात दिन जोते तो नहीं रहता, दूर हो जाता है व तब अवकाश मिलता है धर्मदृष्टिका, किंतु मायाचारके संस्कारी पुरुष में तो रात दिन मलिनता बनी रहती है। वहां धर्मदृष्टिके लिए अवकाश नहीं मिल पाता है। यही कारण है कि मायाकषायको शल्यमें गिनाया है। शल्यमें तीन कषायें नहीं बतायी हैं। जैसे मालाके दानेमें टेढ़ा छेद हो तो वहां सूत प्रवेश नहीं कर सकता, यों ही मायासे जिसका हृदय टेढ़ा हो गया है, उस हृदयमें धर्मका सूत नहीं पिरोया जा सकता।

मायाचारोंकी अनात्मरूपता— मायाचारकी डिग्रियोंके उपदेशमें टेढ़ी चीजका उदाहरण लिया गया है। अनन्तानुबन्धी माया बांसकी जड़ की तरह है। जैसे बांसकी जड़ बहुत टेढ़ी मेढ़ी होती है, इसी प्रकार अधिक टेढ़ा भाव होता है अनन्तानुबन्धी मायामें। सो जैसे बैल चलता जाए और मूतता जाए तो उसके मूत्रकी रेखा कितनी टेढ़ी रहती है, जमीन पर देखा होगा। ऐसा ही वक्र हृदय रहता है अप्रत्याख्यान मायामें और जैसे मेढ़ाके सींग गऊमूत्रसे कम टेढ़ी होती हैं—ऐसे ही प्रत्याख्यान माया कम टेढ़ी हुआ करती है। खेत जोतने वाला हल बहुत कम जगह टेढ़ा रहता है। कहीं थोड़ा टेढ़ा हो गया, फिर आगे बहुत दूर तक बिल्कुल सीधा जाता है। ऐसे ही कम टेढ़ी होती है संज्वलन माया। ऐसे वक्रभाव होना मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है। मैं मायारूप नहीं हूं।

लोभकषायकी अनात्मरूपता— लोभकषायको रंगकी उपमा दी गयी है। जो अधिक लोभी होता है उसको लोभ कहते हैं कि यहां और का रंग न जमेगा, यह पक्का रंग है, यह रंग भी अनेक प्रकारसे दृढ़ और अदृढ़ रहा करता है। सबसे अधिक रंग चक्केके ऊँगनका बताया गया है। बैलगाड़ीमें जो चक्का लगाते हैं, उसमें तैल डाला जाता है तो वह तैल उसमें घिसता रहता है। वहां उस घिसे हुए लोहेका रंग कपड़े पर लग जाए तो कपड़ा चाहे फट जाए, पर रंग नहीं छूटता। ऐसा ही रंग अनन्तानुबन्धी लोभका है। भव भव तक साथ जाता है। पहिले समयमें महिलाएं धोतियां मजीठके जिस रंगसे रंगती थीं, वह रंग चक्रमलसे कुछ कम गहरा होता है, फिर भी बहुत गहरा होता है, यों ही अप्रत्याख्याना-वरण लोभ है। इससे और हलका रंग मान लो हल्दीका रंग, यह बहुत थोड़े समय तक रहता है—ऐसे ही होता है प्रत्याख्यानावरण लोभ। जैसे टेसूके फूलका रंग होता है, होलीके समय लोग एक दूसरे पर डालते हैं, यह बहुत हल्का रंग है, जरासी धूपमें उड़ जाता है—ऐसा ही लोभ होता है संज्वलनमें। यह आत्मा समस्त परद्रव्योंसे अत्यन्त विविक्त है, स्वरूपा-

चित्स्वमात्र है, किन्तु इन परपदार्थोंकी ओर जो इसका उपयोग लुपा है, आकर्षण होता है, यह एक अनहोनीसी बात है। ऐसा विरुद्ध आचरण मेरा स्वरूप नहीं है। मैं लोभरहित हूं।

विभावविविक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्रकी प्रतीति— इस प्रकार यह परमार्थप्रतिक्रमणका उपासक ज्ञानीसंत अपनेको कषायरहित तक रहा है और कषायरहित तके, इतने तक ही उसकी अनुभूति नहीं चल रही है, किन्तु कषायरहित भी मैं नहीं हूं। कषाय और अकषाय इन दोनों स्थितियों से विवक्त केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं—ऐसी प्रतीति कर रहा है।

आत्मस्वरूपमें कषायभावोंका अभाव— यह मैं चित्स्वभावमात्र आत्मतत्त्व क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक किसी भी कषायरूप नहीं हूं। यह तो आबालगोपालमें भी प्रायः प्रसिद्ध है, किन्तु मैं इन विभावोंका कर्त्ता भी नहीं हूं। ये क्रोधादिक विभाव योग्य निमित्तभूत द्रव्यकर्मके विपाकका सन्निधान पाकर योग्य योग उपयोगकी परिस्थिति वाले इस उपादानमें वे विभाव आविर्भूत होते हैं। मैं इनका कर्त्ता नहीं हूं। इसी प्रकार मैं इन का कराने वाला भी नहीं हूं और न इनके करते हुए तत्त्वोंका अनुमोदक हूं। इस प्रकार मैं चित्स्वभाव उक्त सकल पद्धतियोंमें इन कषायविभावोंसे विविक्त हूं।

आत्माकी कृतिके सम्बन्धमें विधि निषेधकी सन्धि— यहां तक अपने आत्मतत्त्वमें विभावव्यञ्जनपर्यायरूपताका अभाव, नाना स्थानोंका अभाव, बाल्यादिक देहोंकी अवस्थावोंका अभाव, रागादिक विकारोंका अभाव और अबुद्धिगत भी समस्तविकारोंका अभाव बताया गया है, साथ ही यह भी बताया गया है कि मैं इन परतत्त्वोंका अथवा परभावोंका कर्त्ता नहीं हूं, कारयिता नहीं हूं और इनके करने वालोंका अनुमोदक भी नहीं हूं। इतना निर्णय कर चुकनेके बाद अब सबके उपसंहाररूपमें यह बता रहे हैं कि यदि मैं नाना विकल्पोंकरि भरे हुए नाना भेदोंसे भिन्नरूप हुए विभावपर्यायोंका, कषायादिक समस्त परतत्त्वों परभावोंका कर्त्ता नहीं हूं, कराने वाला नहीं हूं और उनके करने वाले अर्थात् उनके निमित्तभूत पुद्गलकर्मोंका अथवा साक्षात् उपादानभूत पुद्गलस्कंधोंका मैं अनुमोदक भी नहीं हूं तो फिर मैं क्या क्रिया करता हूं?

नारकपर्यायका अकर्तृत्व व चित्तत्त्वका सञ्चिन्तन— ज्ञानी अन्तरात्मा पुरुष आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें चिंतन कर रहा है कि मैं नारकपर्यायको नहीं करता हूं, किंतु सहज चैतन्यविलासात्मक ज्ञानदर्शनादिक

गुणोंके स्वतःसिद्ध अगुरुलघुत्व गुणके कारण शुद्ध अर्थपर्यायभूत अपने आत्माको ही संचेत रहा हूं अथवा सहजअनन्तचतुष्टयके विलासरूप अतःस्तत्त्वको अनुभव करता हूं। करनेका तो कहीं नाम भी नहीं है, करनाशब्द तो एक व्यवहार और उपचारका प्रदर्शन करनेके लिए है। प्रत्येक पदार्थ हैं और परिणमते हैं। जीव और पुद्गल निमित्त पाकर विभावरूप परिणमते हैं, अन्य पदार्थ सदा स्वभावरूप परिणमते हैं, निमित्तके अभावमें जीव और पुद्गल स्वभावरूप परिणमते हैं। कैसा भी कोई परिणमे, होनेका तो काम है, पर करनेका क्या काम है? इसी होनेको व्यवहारभाषामें अथवा भेदबुद्धिमें अपने आपका परिणमन करता है--यों कहा जाता है। मैं नारकादिक पर्यायोंको नहीं करता हूं, किन्तु सहज चैतन्यविलासात्मक अपने आत्माको अनुभव रहा हूं।

तिर्यञ्चपर्यायका अकर्तृत्व व चित्तत्त्वका सञ्चिन्तन— मैं तिर्यञ्चपर्यायको भी नहीं करता हूं। पशु-पक्षी, कीड़े-मकौड़े, वृक्ष आदिक तिर्यंचगतिके जीवोंके देह—ये तिर्यचपर्याय कहलाते हैं। मैं इनका भी करने वाला नहीं हूं। ये असमानजातीय द्रव्यपर्यायें हैं। जीव और कर्म तथा आहारवर्गणाके संयोगसे प्रकट होने वाली मायामय अवस्था है। सभी गतियोंकी ऐसी ही मायामय अवस्था है। मैं तिर्यंचपर्यायको नहीं करता हूं, किन्तु सहज चिद्विलासस्वरूप निजात्माको चेत रहा हूं।

मनुष्यपर्यायका अकर्तृत्व व चित्तत्त्वका संचेतन— मैं इस मनुष्यपर्यायको भी नहीं करता हूं। यह जीव है और ऐसे मनुष्यपर्यायमें यह पड़ा हुआ है। इसका निमित्त पाकर इस मनुष्यदेहमें वृद्धि, हानि आदिक अवस्थाएँ होती है। होती हैं तो होती रहो, किंतु मैं केवल अपने परिणामोंको ही करता हूं और इससे भी अन्तरमें प्रवेश करके निरखें तो यह मैं सहज चैतन्यविलासात्मक स्वतत्त्वको ही करता हूं। करता क्या हूं? अनुभवता हूं, चेत रहा हूं।

देवपर्यायका अकर्तृत्व व चित्तत्त्वका संचेतन— मैं देवपर्यायका कर्ता भी नहीं हूं। उत्कृष्ट वैक्रियकवर्गणाओंका जो एक देहरूपमें जमाव है जो कि आत्माके सन्निधानका निमित्त पाकर हो रहा है, धातु उपधातुसे रहित, मल-मूत्र-खून-हड्डीरहित, विशिष्ट प्रकारके वैक्रियकवर्गणावोंके पिण्डरूप और असमानजातीय द्रव्यपर्यायरूप इस देवपर्यायको भी मैं नहीं करता हूं, किंतु स्वतःसिद्ध सहज चैतन्यस्वभावके निजतत्त्वको चेत रहा हूं।

मार्गणास्थानोंका अकर्तृत्व व चित्तत्त्वका संचिन्तन--इस संसारी

जीवके प्रसंगमें और संसारअवस्था मिटनेके प्रकरणमें ये मार्गणास्थान हुआ करते हैं। वे संसारी जनोंके प्रसंगमें ये नाना मार्गणास्थान हैं व मुक्त होनेकी स्थितिमें प्रत्येक मार्गणामें एक एक विशुद्ध स्थान है। ये होते हैं निमित्तके सद्भाव और अभावमें, किन्तु यह मैं सनातन शाश्वत प्रकाशमान चित्स्वभाव उन मार्गणास्थानोंको नहीं करता हूं, किंतु स्वतःसिद्ध सहज चैतन्यविलासात्मक ज्ञायकस्वभावको ही अनुभव रहा हूं।

अनुभूतिकी उपयोगानुसारिता— देखिये बंधन और व्यवहारमें कैसी भी परिस्थिति हो (इस जीवकी बात कह रहे हैं), किंतु उपयोग जिस तत्त्वको ग्रहण किए हुए हो उसही का यह स्वाद लिया करता है। जैसे कोई पुरुष बाहरसे कितने ही आरामसे हो, भोजनकी सुविधा हैं, काम भी कुछ करना नहीं पड़ता है, आरामसे भोजन मिलता है, सब तरहके आराम हों; किंतु उपयोगमें कोई इष्टवियोगका क्लेश बसा हो या निदानका परिणाम सता रहा हो तो वह क्लेशका ही स्वाद लेगा, आरामका स्वाद न लेगा। यों ही कोई ज्ञानीसंत पुरुष बड़ी विपत्तियोंमें पड़ा हो, शत्रु सताते हों, क्रूर जानवर सिंहादि सता रहे हों, अपमानकी बौछारें आ रही हों, कैसी भी भयङ्कर विपत्तियां हों, किंतु ज्ञानीसंतका उपयोग निजसहज चिदानन्दस्वरूप निजतत्त्वके अवलोकनमें है। तो वह ऐसी विपत्तियोंकी स्थितिमें पड़ा हुआ भी अन्तरमें विशुद्ध आनन्दका अनुभव कर रहा है। ऐसे ही यह ज्ञानीपुरुष इस मनुष्यपर्यायमें रहते हुए भी इस पर्यायको दृष्टिसे ओझल करके शुद्ध चैतन्यस्वरूपात्मक निजतत्त्वको चेत रहा है।

गुणस्थानोंका अकर्तृत्व व चित्तत्त्वका संचिन्तन-- यह मैं मिथ्यादृष्टि आदि अयोगकेवलीपर्यंत १४ प्रकारके गुणस्थानोंका भी कर्ता नहीं हूं। यह मैं अनादिअनन्त स्वतःसिद्ध अहेतुकशाश्वत अन्तःप्रकाशमान् चैतन्यमहाप्रभु हूं। ये विविधिनाएं हैं किसकी ? यह मैं तो सहज चैतन्यविलासात्मक निजअंतस्तत्त्वका ही अनुभव कर रहा हूं। श्रद्धा और चारित्रगुणके विकारों और अविकारोंकी अवस्था इस मुझ अंतस्तत्त्वमें नहीं है। यह मैं शुद्ध विधिरूप हूं। मैं किसी भी गुणस्थानको नहीं करता हूं, किंतु एक ज्ञानस्वरूपको ही चेत रहा हूं।

जीवस्थानोंका अकर्तृत्व व चित्तत्त्वका संचिन्तन--- बहुत स्पष्ट दिखनेमें आने वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त अपर्याप्त, ऐसे इन सब जीवस्थानोंको भी मैं नहीं करता हूं। यह मैं तो एक चित्स्वभाव हूं, केवल सहज चैतन्यविलासात्मक निजतत्त्वको चेत रहा हूं---ऐसा चिंतन करता हुआ यह ज्ञानीपुरुष विशुद्ध अनाकुलताका

अनुभव कर रहा है। जैसे मिश्री खाने वाला पुरुष जब जब मिश्रीका चिंतन करता है अथवा दूसरेके मुखसे मिश्रीकी महिमा सुनता है तो उसे बिल्कुल स्पष्ट फिट बैठ जाता है कि हां यह बात बिल्कुल ठीक है। इसी तरह इस ज्ञायकस्वरूपके संचेतनकी बात इस ज्ञानी पुरुषके अन्तरमें बिल्कुल सही बैठती जाती है कि मैं किन्हीं भी परभावोंको, परपर्यायोंको नहीं करता हूं, किन्तु सहज चैतन्यविलासात्मक निज अंतस्तत्त्वको चेत रहा हूं।

बाल्यादिक देहावस्थावोंका अकर्तृत्व व चित्तत्त्वका संचेतन— इस शरीरमें बालक जवानी, बुढ़ापा आदिक अवस्थावोंके अनेक भेद हैं। अनेक परिस्थितियोंरूप यह देह रहा करता है, इस देहस्थानरूप मैं नहीं हूं और न मैं इस देह स्थानका करने वाला हूं। यह मनुष्य क्या यह चाहता है कि मैं बूढ़ा बन जाऊँ, तो इस बुढ़ापेको क्या यह जीव करता है? जैसे यह बुढ़ापेको नहीं करता, इसी तरह यह जवानी व बचपनको भी नहीं करता है। ये असमानजातीय द्रव्यपर्यायरूप प्रकट शरीर इन अवस्थावोंको धारण कर रहे हैं, मैं उन्हें भी नहीं करता हूं, मैं तो सहजचैतन्यविलास-स्वरूप इस निज ज्ञाताको ही अनुभव रहा हूं।

रागादिक विकारोंका अकर्तृत्व व चित्तत्त्वका संचेतन— आभ्यंतर में ये रागादिक विकार हो रहे हैं। क्यों हो रहे हैं, कैसे हो रहे हैं? इन सब बातोंका सिद्धान्त सुदृढ़ है। ये होते हैं, ये विकाररूप भाव हैं, उपाधि का सन्निधान पाकर होते हैं लेकिन ये तो इस स्वभाव दृष्टिमें करने वाले मुझको यों नजर आ रहे हैं जैसे पानीके ऊपर तैल व्यापक है। पानी उस तैलसे निर्लेप है, ऐसी ही शक्ति व्यक्तिका अन्तर डालकर जहां भी मैं देख रहा हूं कि ये रागादिक विकार मेरे ऊपर तैर रहे हैं, किन्तु ये स्वभावरूप नहीं बन सकते हैं। मैं चित्स्वभावमात्र हूं। मैं इन रागादि विकारोंको नहीं करता हूं, किन्तु सहज चैतन्यविलासात्मक निज आत्मतत्त्वको अनुभव रहा हूं।

कषायभावोंका अकर्तृत्व व अन्तस्तत्त्वका संचेतन— इसी प्रकार क्रोध मान, माया, लोभरूपसे विभिन्न इन भावकर्मोंरूप विपयोंको भी मैं नहीं करता हूं। ये हो जाते हैं। जैसे रसोई घरमें रोटी बनती है तो रोटी बनाने वाली महिलाका हाथ चल रहा है, आग भी धधक रही है, तवा भी गरम हो रहा है और रोटियां भी सिक कर परिपक्व बन रही हैं, ऐसी स्थितिमें हम उसे रोटीका करने वाली कैसे कहें? यह भी एक पक्षमें निर्णय नहीं कर सकते हैं। उस महिलाने रोटी नहीं की क्योंकि उसका हाथ पृथक् है, रोटी पृथक् चीज है पृथक् वस्तुमें पृथक् वस्तुकी कोई

करतूत नहीं चला सकती। यों ही आग अलग है, तवा अलग है रोटी अलग है, किसने परिपक्व किया ? तो यह कहें कि इन सबका निमित्त पाकर रोटी ने रोटीको कर दिया। खुदने खुदको कर दिया, इसका क्या अर्थ है ? यहां तो सर्वत्र होना ही होना नजर आ रहा है, करना तो कुछ नजर आता ही नहीं है। किसीके सन्निधानमें, निमित्तमें, प्रसंगमें जो जब होना है सो हो रहा है। मैं इस कषाय भावको नहीं करता हूं, किन्तु सहज चैतन्य विलासात्मक निज आत्मतत्त्वका संचेतन कर रहा हूं, आत्माको चेत रहा हूं।

परमार्थप्रतिक्रमकका अन्तःपुरुषार्थ— इस प्रकार परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकारके प्रारम्भमें कहे हुए इन पंचरत्नों स्वरूप कथनमें इस आत्मतत्त्वको समस्त विभाव पर्यायोंसे विभिन्न देखा गया है और यह ज्ञानी पुरुष उन पर और परभावोंसे कैसे दूर हो जाय ? इसका विधान बताया गया है। इस प्रकार इन सब पर और परभावोंसे हटकर निज अंतस्तत्त्वका जो आश्रय करता है वही पुरुष परमार्थ प्रतिक्रमण कर रहा है। इस ज्ञानीपुरुषने समस्त विषयोंके ग्रहण करनेकी चिंता त्याग दी है। यह किसी भी विषयको अब ग्रहण नहीं करना चाहता। इस ज्ञानी पुरुषने निज द्रव्यगुण पर्यायके स्वरूपमें अपना यथार्थ प्रकाश पाया है, ऐसा यह ज्ञानी संत जो सकल परिणतियोंसे विविक्त शाश्वत अंतःप्रकाशमान् चित्स्वरूपका अवलोकन कर रहा है, उसका ही आश्रय और अवलम्बन कर रहा है। वह परमार्थप्रतिक्रमणके बलसे समस्त विकारोंको शुद्ध करके अर्थात् समस्त विकारोंको दूर करके अपने आत्मामें विशुद्ध चित्प्रकाशमात्र अनुभवता है और इस कैवल्यके अवलम्बनसे कैवल्य अवस्थाको प्राप्त करता है, अर्थात् संसारके समस्त संकटोंसे शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करता है।

धर्मपालनके लिये आन्तरिक निर्णय— भैया ! धर्मपालनके लिए एक निर्णय रखिये। उपाय तो अनेक सम्भव हैं लेकिन उन सब उपायोंसे गुजर कर अपने सहज स्वरूपकी पहिचान की जाय इस पर ही धर्म अवलम्बित है। अपने आपको सर्वसंकटोंसे पार कर देने वाले इस धर्मस्वभाव रूप अपने आपको दृष्टिमें लेकर सर्वचिंतायोंको तजकर, सर्वविषयोंका ग्रहण तजकर निर्विकल्प परमविश्रामरूप अपने आपको अनुभवना चाहिए, यही सर्वदुःखोंसे छूटनेका विशुद्ध परिणाम है।

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥८२॥

प्रतिक्रमणादिकके व्याख्यानका संकल्प— इस अधिकारके पहिले

का कारण है मध्यस्थ होना और मध्यस्थ होनेका उपाय है भेदविज्ञानके उपयोगमें स्थित रहना। भेदविज्ञानके उपयोगमें स्थित रहनेका साधन है उस भेदभावनाका अभ्यास दृढ़ करना। भेदभावनाके अभ्यासको दृढ़ करने का कारण है वस्तुस्वरूपका यथार्थ यथार्थ परिज्ञान होना। जब वस्तुका स्वतःसिद्ध स्वरूपास्तित्त्वमात्र लक्षण जान लिया जाता है तो वहां भेद विशद दृष्ट हुआ करता है। वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिचय पानेके लिए ज्ञानाभ्यास करना होगा।

प्रायोजनिक स्वरूपावगमका संकेत— हम द्रव्य गुण पर्यायके विस्तारमें वस्तुको पहिले जानें तब यह भेद विज्ञात होता है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी पर्यायोंसे उत्पन्न होता हुआ अपनी-अपनी पर्यायोंमें ही उस उस कालमें तन्मय रहा करता है। वह पर्याय प्रतिक्षण नवीन-नवीन हो जाती है और पुरानी पुरानी पर्याय उस वस्तुमें विलीन हो जाती है। उन समस्त पर्यायोंका आधारभूत, जितने भी किस्मके पर्याय हैं उतने ही पदार्थोंमें गुण होते हैं। ये गुण पदार्थकी शक्तियां हैं और जैसे कि पदार्थ अनादि अनन्त हैं ऐसे ही ये शक्तियां भी अनादि अनन्त हैं। उन समस्त शक्तियोंका जो पुञ्ज है वह द्रव्य कहलाता है। प्रत्येक सत् अपने ही द्रव्य गुण पर्यायमें तन्मय है, अन्य सबके द्रव्य गुण पर्यायसे अत्यन्त विविक्त है, ऐसा उन समस्त पदार्थोंका सामान्यतया परिचय पाने पर और असाधारण लक्षण निरखकर, उन शक्तियोंको निरखकर विशिष्ट परिचय पाने पर भेदविज्ञान होता है। भेदविज्ञानके पश्चात उस विशिष्ट परिचय को भी समाप्त करना होता है। साधारण स्वरूपमें अर्थात् मध्यस्थ होकर स्वतःप्रसिद्ध होने वाले अपने आपके ज्ञातृत्वरूप स्वमें स्थित होनेको निश्चयचारित्र कहते हैं। इस कल्याण प्राप्तिके लिए हमें यथार्थ ज्ञानाभ्यास को महती आवश्यकता है।

दुर्लभ मनुष्यभवमें सावधानीका अनुरोध— वर्तमानमें मनुष्यभव पाया, धन संपदा भी यथायोग्य पायी जिसमें किसी भी प्रकारकी चिंता भी नहीं है। यों तो चिंता करनेके लिए अपनी तृष्णा बढ़ाते जाओ तो चिंताओंकी कभी सीमा नहीं आ सकती। पर जितने से अपने प्राण रह सकते हैं और प्राण रहने पर धर्मके लिए हम समर्थ रह सकते हैं, इतने साधन प्रायः सबने पाये हैं और प्रतिभा ज्ञान भी सबने पाया है। जिस बुद्धिमें इतनी सामर्थ्य है कि इतना बड़ा व्यापार करले, आय बनाले, हिसाब रखले अथवा सामाजिक राष्ट्रीय अनेक प्रोग्राम बना सकें, विवाद हल कर सकें, क्या उस बुद्धिमें यह सामर्थ्य नहीं है कि स्व परका यथार्थ

५ गाथावोंमें जो वास्तविकता बतायी गयी है उसका परिज्ञान होने के कारण जब इस आत्माको भेदविज्ञानका अभ्यास हो जाता है तब यह भेदविज्ञानी जीव मध्यस्थ होता है अर्थात् न रागकी ओर इसका झुकाव रहता है न द्वेषकी ओर झुकाव रहता है। राग और द्वेष दोनोंसे परे होकर यह मात्र ज्ञाता रह जाता है। केवल ज्ञाता रह जानेकी स्थिति हो जानेका नाम चारित्र है। इस ही चारित्रसे संसारके समस्त संकट दूर होते हैं। अतः कल्याणके अर्थ इस चारित्रका धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। उसही चारित्रके दृढ़ करनेके निमित्त अब प्रतिक्रमण आदिकको कहेंगे।

महत्त्वपूर्ण योजनाकी भूमिकामें सर्वस्वदर्शन— जब बहुत बड़ी योजना अपनी होता है, बहुत प्रायोजनिक मार्मिक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव रखनेको होता है तो उससे पहिले ऐसी भूमिका कहनी पड़ती है कि उस प्रस्तावका समस्त रहस्य दे दें। श्रोतावोंके चित्तमें उस प्रस्तावका समर्थन हो जाना यह सब पहिले ही हो चुकता है आंतरिक आशय द्वारा, फिर प्रस्तावको बतानेमें और उसको पास करानेमें अधिक समय नहीं लगता है। यों ही मानो इस परमार्थप्रतिक्रमणके महान् पुरुषार्थके विवरणमें महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रमणसे पहिले जो पंचरत्नोंमें भूमिका मानी गयी है, परिज्ञान कराया गया है उसको ही सुनकर श्रोतावोंने इस प्रतिक्रमणका हार्दिक समर्थन कर दिया है। अब उस पंचरत्नमयी भूमिकाके बाद अथवा परमार्थप्रतिक्रमणका जो प्राणभूत परिज्ञान है उस परिज्ञानके प्रतिपादनके बाद अब आचार्यदेव कह रहे हैं कि प्रतिक्रमण आदिकको कहेंगे।

प्रतिक्रमणका प्रयोजन— प्रतिक्रमणकी आवश्यकता निर्दोष चारित्र की सिद्धिके लिए है। निर्दोष चारित्रकी सिद्धि समस्त आकुलतावों के मिटाने के लिए है। समस्त आकुलतावोंका मिट जाना इस जीवका ध्येय है, मंतव्य है, लक्ष्य है। चाहते यह हैं समस्त जीव लोक कि रंच भी पीड़ा न रहे। अनाकुलताकी स्थिति कैसे आये? उसके उपायमें यह चारित्रशोधक परमार्थप्रतिक्रमणका वर्णन चल रहा है।

हितमार्गमें स्वरूपावगमरूप मौलिक उपाय— चारित्र कहिए या मध्यस्थ होना कहिए, करीब-करीब एकार्थक बात है। रागद्वेषसे परे होकर केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेको मध्यस्थ कहते हैं। मध्यस्थ कहिए अथवा तटस्थ कहिए, यहां तक कुछ-कुछ प्रायः एकार्थक बात है। लेकिन सूक्ष्मतासे देखा जाय तो पहिले कभी तटस्थ हो जाते हैं पश्चात् मध्यस्थ हो जाते हैं और कभी पहिले मध्यस्थ हो जाते हैं, पश्चात् तटस्थ हो जाते हैं, किन्तु सबसे उत्कृष्ट अवस्था इस मध्यस्थ और तटस्थ होनेसे ऊपरकी है। उस अवस्था

का कारण है मध्यस्थ होना और मध्यस्थ होनेका उपाय है भेदविज्ञानके उपयोगमें स्थित रहना। भेदविज्ञानके उपयोगमें स्थित रहनेका साधन है उस भेदभावनाका अभ्यास दृढ़ करना। भेदभावनाके अभ्यासको दृढ़ करने का कारण है वस्तुस्वरूपका यथार्थ यथार्थ परिज्ञान होना। जब वस्तुका स्वतःसिद्ध स्वरूपास्तित्त्वमात्र लक्षण जान लिया जाता है तो वहां भेद विशद दृष्ट हुआ करता है। वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिचय पानेके लिए ज्ञानाभ्यास करना होगा।

प्रायोजनिक स्वरूपावगमका संकेत— हम द्रव्य गुण पर्यायके विस्तारमें वस्तुको पहिले जानें तब यह भेद विज्ञात होता है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी पर्यायोंसे उत्पन्न होता हुआ अपनी-अपनी पर्यायोंमें ही उस उस कालमें तन्मय रहा करता है। वह पर्याय प्रतिक्षण नवीन-नवीन हो जाती है और पुरानी पुरानी पर्याय उस वस्तुमें विलीन हो जाती है। उन समस्त पर्यायोंका आधारभूत, जितने भी किस्मके पर्याय हैं उतने ही पदार्थोंमें गुण होते हैं। ये गुण पदार्थकी शक्तियां हैं और जैसे कि पदार्थ अनादि अनन्त हैं ऐसे ही ये शक्तियां भी अनादि अनन्त हैं। उन समस्त शक्तियोंका जो पुञ्ज है वह द्रव्य कहलाता है। प्रत्येक सत् अपने ही द्रव्य गुण पर्यायमें तन्मय है, अन्य सबके द्रव्य गुण पर्यायसे अत्यन्त विविक्त है, ऐसा उन समस्त पदार्थोंका सामान्यतया परिचय पाने पर और असाधारण लक्षण निरखकर, उन शक्तियोंको निरखकर विशिष्ट परिचय पाने पर भेदविज्ञान होता है। भेदविज्ञानके पश्चात उस विशिष्ट परिचय को भी समाप्त करना होता है। साधारण स्वरूपमें अर्थात् मध्यस्थ होकर स्वतःप्रसिद्ध होने वाले अपने आपके ज्ञातृत्वरूप स्वमें स्थित होनेको निश्चयचारित्र कहते हैं। इस कल्याण प्राप्तिके लिए हमें यथार्थ ज्ञानाभ्यास की महती आवश्यकता है।

दुर्लभ मनुष्यभवमें सावधानीका अनुरोध— वर्तमानमें मनुष्यभव पाया, धन संपदा भी यथायोग्य पायी जिसमें किसी भी प्रकारकी चिंता भी नहीं है। यों तो चिंता करनेके लिए अपनी तृष्णा बढ़ाते जावो तो चिंताओंकी कभी सीमा नहीं आ सकती। पर जितने से अपने प्राण रह सकते हैं और प्राण रहने पर धर्मके लिए हम समर्थ रह सकते हैं, इतने साधन प्रायः सबने पाये हैं और प्रतिभा ज्ञान भी सबने पाया है। जिस बुद्धिमें इतनी सामर्थ्य है कि इतना बड़ा व्यापार करले, आय बनाले, हिसाब रखले अथवा सामाजिक राष्ट्रीय अनेक प्रोग्राम बना सकें, विवाद हल कर सकें, क्या उस बुद्धिमें यह सामर्थ्य नहीं है कि स्व परका यथार्थ

परिज्ञान प्राप्त कर ले। बुद्धि भी खूब है, इन्द्रियां भी समर्थ हैं, सारी योग्यताएँ ठीक हैं, धार्मिक प्रोग्राम भी मिले हुए हैं इतना सब कुछ मिल जाने के बाद भी यदि विषयोंकी ही लिप्सा रही, इस मायामयी दुनियामें अपना नाम जाहिर करने की ही मंशा रही, अपने आपके इस पर्यायको लोकमें प्रसिद्ध करनेका ही आशय रहा तो समझ लीजिए कि वही गति है कि बहुत ऊँचे चढ़कर थोड़ी असावधानी से एकदम नीचे गिर जाना है।

उपाकारीपर अन्यायके फलपर एक दृष्टान्त— एक साधु महाराज थे। उनके पास एक चूहा बैठा था, उसपर बिल्ली झपटनेको हुई तो दयावश साधुने उस चूहेको आशीर्वाद दिया कि तू भी बिलाव बन जा। वह बिलाव बन गया। अब उसे बिलावका डर नहीं रहा। लो उसपर थोड़ी देरमें कुत्ता झपटा तो आशीर्वाद दिया कि तू भी कुत्ता हो जा। कुत्ता बन गया। अब उसपर झपटा नाहर, तेंदुवा, तो उसने फिर आशीर्वाद दिया कि तू भी नाहर बन जा। बन गया नाहर। इसके बाद उसपर झपटा सिंह। साधुने कहा कि तू भी शेर बन जा। बन गया सिंह। देखो चूहासे शेर बन गया। अब उस सिंहको लगी भूख, सिंह उस साधुपर झपटनेकी सोच चुका, इतने में साधुने आशीर्वाद दिया कि तू फिरसे चूहा बन जा। इतना बड़ा सिंह बन जानेके बाद एकदम चूहा बनना पड़ा और जो क्लेश था, जो बात थी वह सब आ गयी।

आत्मदेवपर अन्याय करनेका फल— इसी प्रकार हम आप जरा व्यापक दृष्टि डालें। कभी निगोद अवस्थामें थे, एक श्वासमें १८ बार जन्म मरण लेना पड़ता था, बड़ी कठिनाई उस जीवनमें रही। इस आत्मदेवका कुछ प्रसाद मिला, कुछ निर्मलता हुई, कुछ विशुद्धि बनी कि निगोद अवस्थासे निकला और अन्य स्थावरोंमें आया और विशुद्धि हुई तो त्रस पर्यायमें आया। उसमें भी संज्ञीपंचेन्द्रिय और उसमें भी मनुष्य हो गये। इन्द्रिय, मन, बुद्धिबल सब कुछ विशिष्ट हो गया। एक निगोद अवस्थासे निकलकर ऐसे बलिष्ट मनुष्यभवको प्राप्त कर लिया, अब मनुष्य होकर यह अपनी विद्याका, बलका उपयोग करने लगा कषाय साधनोंमें, लड़ाई झगड़ोंमें। इन्द्रियके विषयका कितना बड़ा विस्तार हो गया और मनके विषयका तो और भी अधिक विस्तार हो गया। अब विषयसाधन करके इसने अपने आत्मदेव पर हमला किया है। जिस आत्मदेवके प्रसादसे यह निगोद अवस्थासे निकल कर आज मनुष्यपर्यायकी उत्कृष्ट स्थितिमें आया है। अब यह उस ही आत्मदेव पर आक्रमण कर रहा है। विषयोंमें भ्रमण कर अपने आपको भूल रहा है। ऐसे आक्रमणके समयमें म्लान हुआ यह

आत्मदेव भीतरसे यह आशीर्वाद दे रहा है कि तू फिरसे निगोद बन जा लो अब जिसे गर्तसे उठे थे उसी गर्तमें फिर गिर गये।

मोहपरित्यागमें ही कल्याण-- भैया ! ऐसी उत्कृष्ट स्थिति पाने पर अब तो कुछ विवेक उपयोगमें लाना चाहिए। सबसे विविक्त केवल-ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र अपने आपके प्रभुको तो निरखिये, झूठे मोहमें क्या रक्खा है और वह मोह भी आखिर छोड़ना पड़ेगा। मोह तो न छूटेगा पर मोहमें जो विषय बनाया है उसे छोड़ना पड़ेगा। मोह तो ज्ञानबलसे ही छूटेगा। थोड़े दिनोंका जो समागम मिला है, जो कुछ असार पदार्थों की परिस्थिति मिली है उसमें मुग्ध हो जाना, इससे बढ़कर मूढ़ता और क्या हो सकती है ? ये मोही लोग किसी प्रकार धनको जोड़ लेनेमें अपनी चतुराई समझते हैं या किसी प्रकार देशमें, गोष्ठीमें अपनी कुछ पैठ बना लेनेमें चतुराई समझते हैं, किन्तु वह क्या चतुराई है जिसके बाद फिर क्लेशका सामना करना पड़ेगा, वह कौनसी भली परिस्थिति है ? बुद्धि-मानी तो यह है कि इस भवसे निकल जाने से ही पहिले हम भविष्यका सब कुछ भला निर्णय बनाले। यह सब कुछ होगा मोह छोड़नेके कारण।

कार्यसफलताकी योग्य विधि पर एक दृष्टान्त-- भैया ! धर्मपालन जिस पद्धतिसे, जिस मूल उपायसे होता है उस ही मूल उपायको किया जाय तो होगा अन्यथा न होगा। एक रानीका बाग था, उसका सारा प्रबंध रखना उसके ही हाथ था। वह एक बार बीमार हो गयी तो अपने लड़केसे कहती है रानी कि देखो उस बगीचेकी खूब सेवा करना, उस बगीचेको खूब सींचना, बगीचा खूब हरा भरा साफ रहे। उस लड़के ने बागकी खूब सेवा की। सेवा तो बहुत की, लेकिन कुछ ही दिनोंमें वह बाग सूख गया। रानी स्वस्थ हो गयी और बाग देखने गयी तो देखा कि सारा बाग सूख गया। रानीको बड़ा विषाद हुआ। लड़के को बुलाया और पूछा कि बेटा यह बाग कैसे सूख गया ? क्या तुमने इसकी सेवा नहीं की ? लड़का बोला मां ! मैंने तो अथक परिश्रम किया। कोई पत्ता धूल भरा भी नहीं रह सका। खूब सींचा, डाली डाली सींची, पत्ते-पत्तेमें पानी डाला। तो बेटा तुमने जड़ोंमें पानी डाला कि नहीं ? मां ! यह तो नहीं कर पाया। तो पत्तियोंके धोनेसे, डाली-डाली सींचनेसे तो बाग सूख जायेगा ही। उन पत्तियोंको न साफ करे, उन डालियोंमें पानी न डाले और बराबर जड़ोंको ही पानी देता रहे तो वह बाग हरा भरा बना रहेगा, सूखेगा नहीं।

आत्मविकासकी मूल विधि-- ऐसे ही जानो भैया ! कि यह आत्मा

के गुणोंका बाग हरा भरा कैसे रह सकता है? इसका उपाय तो दोष रहित शुद्धज्ञानप्रकाशमात्र स्वतत्त्वको निरखना, यही है इस बागकी मूलको सींचना। इस परमार्थ परमपारिणामिकभावरूप पंचमगतिका कारणभूत सहजस्वभावका अवलोकन, आलम्बन, आश्रयरूप चिंतन, मन, वचन, कायकी क्रियाएँ, विकल्प, हाथ पैर पीटना, शरीरको रगड़ा धोना, साफ करना, छुवाछूतका भारी पालन करना, बहुत-बहुत भी ऐसे बाह्य काम कर लिए जायें तो ये सब मूल सिंचनके बिना पत्तियों और टहनियोंको धोनेकी तरह हैं। ऐसे बाह्य क्रियाकाण्ड करके भी इस आत्माके गुणोंका विकास नहीं हो सकता है, यह आत्मउपवन हराभरा नहीं रह सकता। यहां परमार्थ प्रतिक्रमणके प्रसंगमें ऐसा ही उपाय कराया जा रहा है जिस उपायके प्रसादसे यह आत्मबाग सर्वदोषोंसे रहित होकर शुद्ध विकासरूप बन जाय, हरा भरा बन जाय अर्थात् आनन्द ही आनन्द बरस जाय। ऐसे उपायमें सर्वप्रथम यह बतला रहे हैं कि हे कल्याणार्थी पुरुषों! प्रत्येक वस्तुका जैसा यथार्थस्वरूप है तैसा पहिले जानो और उस परिज्ञानसे स्वपरमें भेदविज्ञान बनावो, भेदाभ्यास करो, फिर विकारोंको छोड़कर निज तत्त्वके ही दर्शन करो तो आत्माका शुद्ध विकास हो सकता है।

प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानका संकल्प- इस शुद्धविकासकी मूल प्रक्रिया स्वरूपाचरण है और यही निष्क्रिय आत्मस्थितिरूप प्रक्रिया प्रगतिशील होकर यथाख्यात व पूर्ण परमचारित्र हो जाता है जिसमें अनन्त सहज परम आनन्दका निरन्तर अनुभवन रहता है। उस चारित्रकी प्राप्ति व अविचल स्थितिके हेतु अब प्रतिक्रमणादिकी निश्चय क्रिया बताई जा रही है। प्रतिक्रमणका अर्थ है अतीत दोषोंके परिहारके अर्थ प्रायश्चित्त करना अतीत दोषोंका संस्कार न रह सके व अतीत दोषोंके कारण उस कालमें बद्ध हुए कर्म विफल हो जावें, वे पुनः दोषोंके उत्पादननिमित्त न हो सकें ऐसे अन्तःपुरुषार्थ करने को प्रतिक्रमण कहते हैं।

पावन प्रबल प्रणेताकी वचनरचनाकी महिमा— इस गाथामें यह कहा गया है कि प्रतिक्रमणादिकको कहूंगा। इस आदि शब्दसे प्रत्याख्यान आदिका ग्रहण करना चाहिये। यहां एक जिज्ञासा यह हो सकती है कि यह तो प्रतिक्रमण अधिकार है इसमें तो प्रतिक्रमणके ही कहने का संकल्प बताना चाहिये था और जब प्रत्याख्यान अधिकारका प्रारम्भ करते तब प्रत्याख्यानके कहनेका संकल्प बताना चाहिये था, ऐसा न करके इसी स्थल में प्रतिक्रमणादिकको कहूंगा, ऐसा क्यों कहा गया है? इसका समाधान यह है कि परमहित नियमका प्रतिपादन करने वाले आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव

इस ग्रन्थमें उपयोगी तत्त्ववर्णन करते गये थे। उनका यह तत्त्ववर्णन स्थलानुसार क्रमिक, अध्यात्मदिग्दर्शक धाराप्रवाह चलता गया था। यह अधिक संभव है कि इस ग्रन्थके प्रणेता पूज्यपाद आचार्य कुन्दकुन्ददेवने पहिले से यह छटनी न की होगी हमें इतने अधिकार इस इस क्रमसे इतनी इतनी गाथावोंमें बनाने हैं, उन्होंने तो हितभावसे परमदेशना की है। महापुरुषोंकी वाणी क्रम अधिकार आदि न सोचे जाने पर भी ऐसी संतुलित, परिमित, उपयोगी क्रमिक हो जाती है कि उनकी रचनाके व्याख्याकारोंको अधिकारोंकी छटनीमें श्रम नहीं होता। इस तत्त्ववर्णनके स्थलमें प्रसंगवश इसी कारण "प्रतिक्रमणादिक कहूंगा" इसमें आदि शब्द दिया गया है। इस आदि शब्दसे यह प्रकट होता है कि आगे कहे जाने वाले निश्चय प्रत्याख्यान परम आलोचना, शुद्धनयप्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति और निश्चयपरमावश्यकका दोषनिवृत्तिसे विशिष्ट सम्बन्ध है।

परमार्थप्रतिक्रमणका प्रसाद— परमार्थप्रतिक्रमणमें प्रमुख आधार सहज चिद्विलासात्मक आत्मतत्त्वके आलम्बनका है और उसमें उपमुख आधार स्वपरभेदविज्ञानका है। भेदविज्ञानकी अपार महिमा है– जितने भी आत्मा परमात्मा हुए हैं वे सब भेदविज्ञानके प्रसादसे सिद्ध हुए हैं तथा जितने भी जीव अब तक बद्ध हैं वे सब भेदविज्ञानके अभावसे ही बद्ध हैं, परतन्त्र हैं, जन्ममरणादिके क्लेश सह रहे हैं। अहो, भेदविज्ञानके प्रकट होने पर सहजानन्दधाम चिद्विलासात्मक आत्मतत्त्व संदृष्ट हो जाता है और तब यह आत्मा भेदाभ्याससे प्राप्त अभेदस्वरूप अन्तस्तत्त्वके आश्रय से पापकलङ्कसे मुक्त होकर पावन हो जाता है। यह सब परमार्थप्रतिक्रमण का परमप्रसाद है। अब इस ही परमार्थप्रतिक्रमणके पात्रका वर्णन है।

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं ॥८३॥

प्रतिक्रमणके विवरणका संकल्प— वचनरचनाको छोड़कर रागादिक भावोंका निवारण करके जो आत्माको ध्याता है उस ज्ञानी पुरुषके वास्तविक प्रतिक्रमण होता है। निश्चयप्रतिक्रमण और व्यवहारप्रतिक्रमण ऐसे प्रतिक्रमणके दो प्रकार बताये गये हैं। व्यवहारप्रतिक्रमण तो विधिपूर्वक प्रतिक्रमण पाठ करते हुए अपने आत्मामें उस योग्य विशुद्धिका भाव करना, सो व्यवहारप्रतिक्रमण है। किन्तु निश्चयप्रतिक्रमण क्या है इसको निश्चयप्रतिक्रमणका अधिकारी बतानेके माध्यमसे इस गाथामें विशेषरूपसे बताया गया है।

व्यवहारप्रतिक्रमण व निश्चयप्रतिक्रमणका निर्देशन— प्रथम तो व्यवहारप्रतिक्रमणका ही महत्त्व देखिये। मोक्षकी इच्छा करने वाले, कल्याणार्थी, निष्कपट भावसे व्रत तपस्या संयममें प्रवृत्ति रखने वाले पुरुष जो दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किया करते हैं वचनरचनामय प्रभुस्तवन दोषोंका मिथ्याकरण दोषोंके निवारणकी भावना आदिका पाठ किया करते हैं जो कि पापके क्षयोंका कारणभूत हैं, शुभोपयोग हैं, ऐसे सूत्रोंका उच्चारण करना यही है व्यवहारप्रतिक्रमण। सुनने में यह भी बड़ा प्रभावशाली प्रोग्राम है मोक्ष मार्गका, फिर भी इस सूत्रमें यह बतला रहे हैं कि ऐसे प्रतिक्रमण पाठके वचनोंका परिहार भी जहां हो जाता है और तद्विषयक अन्तर्जल्पका भी परिहार हो जाता है वहां रागादिकका निवारण होनेसे जो शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान बर्तता है उसे कहते हैं निश्चयप्रतिक्रमण। व्यवहार-प्रतिक्रमण तो विकल्प करके किया जाता है किन्तु निश्चयप्रतिक्रमण ज्ञातृत्वके संस्कारसे स्वयं हुआ करते हैं। ऐसे इस निश्चयप्रतिक्रमणकी बात कही जा रही है।

वैराग्यसुधासिन्धु चन्द्र— निश्चयप्रतिक्रमण जिस पवित्र महापुरुष के होता है उस महापुरुषकी कुछ आन्तरिक चर्चाको ध्यानमें लिए हुए देखिये—यह महात्मा वैराग्यरूपी समुद्रके लिए पूर्णमासीके चन्द्रमाकी तरह है। जैसे पूर्णमासीके चन्द्रमाके अभ्युदयके कारण समुद्र उछलता है, बढ़ता है, इसी प्रकार उसका वैराग्य प्रगतिशील है, बढ़ रहा है। दोषोंका परित्याग तो वही करेगा जो विरक्तिमें बढ़ रहा है। सहज वैराग्य ही वृद्धिशील हुआ करता है।

बनावटी वैराग्यकी विडम्बनायें— बनावटी वैराग्य, बाह्यका परित्याग यह कदाचित् किसीके सत्य वैराग्यका भविष्यमें कारण बन जाय तो बने, परन्तु जब वैराग्यमय सहज आत्मतत्त्वका परिचय नहीं है तो बाह्यपरिग्रहके त्यागसे बनाये गए वैराग्यमें मूल उपाय सुरक्षित नहीं है। सहजज्ञानस्वभावके परिचयके बिना जो बाहरी त्याग किए जाते हैं वे कुछ समय तक तो मौज देते हैं, वे भी आत्मीय आनन्दकी झलक नहीं देते हैं, लोगोंके द्वारा पूजा, प्रतिष्ठा, सम्मान अथवा अपनी कल्पनामें जो धर्मकी धुन आयी है उस धुनसे अपना दिल बहला लेना, ये सब मौज हुआ करती हैं, किन्तु कुछ कालके बाद जब इन मौजोंसे पेट भर जाता है तब लोगोंके सम्मान द्वाराकी हुई पूजा प्रतिष्ठाको एक रोजके देखनेकी आदतसी पड़ जाती है तब इसका मौज घट जाता है, अन्य प्रकारकी तृष्णायें बनने

जिन भावोंके कारण इतना विनाश हो रहा है, इतनी बरबादी हो रही है। वह भाव बड़ा प्रिय लगता है, उनमें ही मन रमा करता है, मौज मानते हैं। कभी अपनेको घररहित, कुटुम्बरहित, देहरहित, पोजीशनरहित, सर्वविडम्बनावोंसे विविक्त केवल ज्ञानमात्र भी अनुभवा जाना चाहिये। यदि अपनेको ज्ञानमात्र कभी प्रतीतिमें नहीं ला सके हैं तो फिर धर्मकी क्रियावोंका पालन या तो विषयोंकी प्रीतिके लिए है या अपना दिल बहलाने के लिए है। ऐसे पुरुषको अज्ञानी मूढ़ कहा गया है।

धर्मपद्धतिका अमोघ फल— भैया! सिलसिलेसे पद्धतिवार कोई धर्मका पालन करे और मुक्त न हो यह कभी हो ही नहीं सकता। अवश्य हो वह मुक्त होगा। पर धर्मपालन की पद्धति तो सही हो रागद्वेष मोहमें माने गये मौजमें भी फर्क न डालना चाहें और हम संसारके समस्त संकटों से मुक्त होनेकी बात करलें, यह कैसे हो सकता है?

व्यामोही मानवकी प्रथम विडम्बना— यह व्यामोही मानव तीन बातोंमें ही तो फंसा हुआ है बाहरमें, जिसे लोग कहते हैं—जर, जोरू, जमीन। जरका अर्थ है धन वैभव हीरा, रत्न, सोना, चांदी, पैसा, नोट, ये सब वैभव कहलाते हैं, इनमें जो उपयोग फंसा रहता है, इनकी ओर जो दृष्टि बनी रहती है सोचिए वह कितनी बहिरङ्ग दृष्टि है। जो जड़ हैं, जिनका संग निश्चित् नहीं है, अटपट मिल गए हैं उन बाह्यपदार्थोंकी ओर तृष्णाका परिणाम होना, ग्रहणका भाव होना वह कितनी गरीबी है? यह मोही तो समझता है कि मैं लाखोंका धन कमाता हूं, रखता हूं और वह धन मेरे हाथकी बात है, मैं अमीर हूं, पर हो रहा है उलटा काम। अपने अन्तरके वास्तविक ज्ञानानन्दस्वरूप निधिको त्यागकर असार भिन्न जड़ इन बाह्यविभूतियोंकी ओर अपना उपयोग सर्वस्व लगा देता है, बना भिखारी निपट अजानकी स्थिति बना लेता है। वे तो बड़ा गरीब है उसे कहीं सत्य संतोष मिल नहीं पाता है, सदा आकुलित रहता है। यह है इस सम्पदाका हाल।

व्यामोही मानवकी द्वितीय विडम्बना— स्त्रीकी बात देखिये—ये व्यामोही पुरुष स्त्रीको सर्वस्व मानते हैं। मेरा देवता है तो स्त्री, भगवान् है तो स्त्री। जितना कमा-कमाकर मरते हैं सब स्त्रीके लिए, पर होता कितना अनर्थ है सो तो देखिये। स्त्रीका प्रेम, स्त्रीका कामस्नेह कितना कटु परिणामवाला है सो देखिये। कोई पुरुष स्त्रीका प्रसंग भी न करे, बहुत दिनों तक चाहे उससे कामसेवन भी न करे, लेकिन उसके संगसे कामस्नेह करे। उसके चित्तमें छुपी हुई कभी कुछ प्रकट हुई जो मलिनता रहती है

उस परिणामके कारण इसके शरीरका भी विनाश हो रहा है और मानसिक बल आत्मीय बल ये भी समाप्त हो रहे हैं। जैसी यह बात पुरुषके लिए स्त्रीकी है वैसी ही बात स्त्रीके लिए पुरुषकी है। इसके स्नेहसे आत्मीय लाभ नहीं होता। कोई विरले ही गृहस्थ संत ऐसे होते हैं कि घरमें रहते हुए भी उनका परिणाम साधु संतोंकी तरह निर्विकार रह सकता हो कुछ समयके लिए। और क्या-क्या कहानी सुनाए, न जाने स्त्रीके कारण क्या-क्या क्लेश हैं। आराममें रहते हुए भी वे अपनी रोती कहानी सुना सकते हैं कि मुझे बड़ा क्लेश है।

व्यामोही मानवकी तृतीय विडम्बना— तीसरी विडम्बना है जमीन मकान दुकान खेती पृथ्वी जो कोई कुछ हिस्सामें थोड़ा बैठता हो या अपने हिस्साके कुछ पास वाली जमीन हो ऐसी चाह रहती है कि यह भी मेरे कब्जेमें आये। अरे मरने पर क्या कुछ साथ ले जाया जायेगा ? एक बार किसी राजाने एक बुढ़ियाका खेत लगान न देनेके कारण हड़प करनेका आदेश दिया। मकान झोंपड़ी खेती सब कुछ सरकारमें जाने लगे। उन्हीं दिनोंमें किसी समय राजा बुढ़ियाके घरके सामनेसे निकला तो बुढ़िया एक बड़े टोकनेमें बहुतसी मिट्टी भरे हुए थी। राजासे कहा, भाई भाई ! मेरा यह टोकना उठा देना। वह कहता है कि यह टोकना कैसे उठाया जा सकता है, यह तो बड़ा वजनदार है। तो बुढ़िया बोली कि इतनी मिट्टी नहीं उठा सकते तो हमारे खेत तुम्हारे मरते समय तुमसे कैसे उठाये जायेंगे ? अब तो राजाकी आंखें खुलीं। राजा बोला— बुढ़िया मां मैंने बड़ा कसूर किया, जा तेरे खेत मकान सब कुछ तुझे वापस कर दिये।

कर्तव्य— भैया ! अब समझ लीजिए कि क्या करना था और कितने उल्टे काम करनेमें बह गए ? इसका काम निश्चयप्रतिक्रमण था। रागादिक विकल्पोंकी तरंग न उठे, मात्र यह आत्मा अपने आपमें अपने आपका, सहजस्वरूपका दर्शन करे, ऐसा निस्तरंग नीरंग शुद्ध ज्ञानप्रकाश जगे यह तो किया जानेका काम था, पर इसकी दृष्टि जाती भी है क्या ? इस ओर निगाह जाती भी है क्या ? यदि इस ओर दृष्टि भी है ? तो अब भी आपके पतंगकी डोर आपके हाथमें है और यदि कुछ भी दृष्टि नहीं जाती है तो समझ लीजिए कि आपके पतंगकी डोर आपके हाथसे निकल गयी। सदा धक्के ही खाते रहोगे। यों ये रागद्वेष मोह विभाव संसारके बंधनको बढ़ानेमें, इस परिभ्रमणको बढ़ानेमें कंदमूलकी तरह हैं। उसका निवारण करे और अखण्ड आनन्दमय निज कारणपरमात्माका ध्यान करें, ऐसे शुद्ध उपयोगके रखने वाले पुरुषके निश्चयप्रतिक्रमण

होता है।

निश्चयप्रतिक्रमणका पात्र— निश्चयप्रतिक्रमणका पात्र वही है जो निश्चयरत्नत्रय का अधिकारी है। उत्कृष्ट तत्त्व है एक चैतन्यस्वभाव प्रथम तो विश्वके समस्त पदार्थोंमें उत्कृष्ट पदार्थ है यह आत्मा, क्योंकि यह ज्ञाता द्रष्टा है, व्यवस्थापक है, निर्देशक है, समझने वाला है और फिर इस आत्मामें भी रागद्वेष मोह विकल्प तरंग कल्पनाएँ ये सब कूड़ा कचरा हैं, ये सारभूत नहीं हैं। इनमें भी सारभूत शुद्ध ज्ञान प्रकाश है। यह शुद्ध ज्ञानप्रकाश जिस तत्त्वका आलम्बन लेने से प्रकट होता है वह सर्वोत्कृष्ट सारभूत परमतत्त्व तो सहज आत्मतत्त्व है। उस परमतत्त्वकी श्रद्धा हो, उस परमतत्त्वका यथार्थ परिज्ञान हो और उस ही परमतत्त्वमें आचरण हो, रमण हो तो ऐसे निश्चयरत्नत्रयके अभिमुख पुरुषके यह निश्चयप्रतिक्रमण रहता है।

परमार्थप्रतिक्रमणका प्रसाद— जिसमें समस्त प्रकारके वचनविषयक विकल्प नहीं रहते हैं और केवल एक शुद्ध सहज ज्ञानतत्त्वका आश्रय रहा करता है ऐसा यह निश्चयप्रतिक्रमण भव-भवके बांधे हुए कर्मोंको, दोषोंको, संस्कारोंको मूलसे यह विनष्ट कर देता है। बहुत विकल्पोंके करनेसे क्या फायदा है? अरे एक परमार्थभूत इस चैतन्यस्वभावका चिंतन करिये, इस परमतत्त्वका ध्यान करिये। इस परमतत्त्वमें ऐसा प्रताप है कि सर्व संकट समाप्त करनेकी दिशा प्रदान करता है जिससे बढ़कर अन्य कुछ नहीं है, ऐसे इस कारणसमयसारका आश्रय करना, सो निश्चयप्रतिक्रमण है। आइए अपनी ओर भावना करिये। पूर्वमें तीव्र रागादिक भावोंका मोह भावसे जो कर्मोपार्जित किया है उसका परित्याग करना चाहिए। उनको दूर करके अब ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मामें ही सदा रहते हुए इस भावनाका उपयोग करो। ऐसे शुद्ध उपयोगसे आत्माको शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है।

आराहणाए वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिक्कमणमओ हवे जम्हा ॥८४॥

प्रतिक्रमणपात्र— जो पुरुष सर्वप्रकारसे विराधनाको छोड़कर आराधनामें लगते हैं वे प्रतिक्रमण कहे जाते हैं। प्रतिक्रमण एक भाव है। भाव-भाववान्‌से जुदा नहीं होता है, इस कारण प्रतिक्रमणमय जीव ही प्रतिक्रमण कहा जाता है। विराधना कहते हैं अपराधको, विगत हो गयी है राधा जिस परिणामसे उसे विराधना कहते हैं। अपनी आत्मसिद्धि जिस परिणाममें नहीं है उस परिणामको विराधना कहते हैं और जहां

चारों ओरसे संसिद्धि बनी रहती है उसे आराधना कहते हैं। परपदार्थों
को ओर उन्मुख होना, रागद्वेष परिणाम करना ये सब विराधना है और
सहज आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि होना जो विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है ऐसे
निजतत्त्वका आश्रय लेना यह है आराधना। जो पुरुष विराधनाको तो
त्याग देता है और आत्माकी आराधनामें लगता है उसही महात्माका नाम
प्रतिक्रमण है क्योंकि यह जीव ही तो प्रतिक्रमणमय हुआ है।

प्रतिक्रमण व प्रतिक्रामकका अभेद— जैसे धर्मात्मावोंको छोड़कर
धर्म अन्यत्र कहां मिलेगा? कोई कहे कि धर्मकी पूजा करो, धर्मका प्रचार
करो, धर्मकी प्रभावना करो तो वह धर्म कहां मिलेगा अन्यत्र? उस धर्म
की क्या शकल है? वह धर्म धर्मात्मा पुरुषोंका जो परिणाम है वही धर्म
है। धर्मात्मावोंको छोड़कर धर्म अन्यत्र नहीं मिलेगा। धर्म है भाव और
धर्मात्मा है भाववान्। भाव और भाववान् भिन्न-भिन्न नहीं हुआ करता
है। केवल गुणगुणी भेद परिचयके लिए किया जाता है। ऐसे ही यह
प्रतिक्रमण एक विशुद्ध परिणामका नाम है। वह विशुद्ध परिणाम आत्मा
को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता। इसलिए उन पुरुषोंका ही नाम प्रतिक्रमण
है जो विराधनाको तजकर आत्माकी आराधनामें लगते हैं।

परमार्थ निरपराधता— जो परमतत्त्वका ज्ञानी जीव निरन्तर
आत्माकी ओर अभिमुख होकर ऐसे ही धारावाही परिणमनसे साक्षात्
स्वभावरूप आत्माके या स्वभावमें अवस्थित आत्मतत्त्वकी आराधनामें
रहा करता है वही पुरुष वास्तवमें निरपराध है और जो निरपराध है
उसके ही परमार्थप्रतिक्रमण है। आत्माके सहज ज्ञानानन्दस्वरूपको तज
कर अन्य किसी परभावमें रमना सो सब अपराध हैं। कोई बड़ी न्याय-
नीतिसे धन कमाता है, किसीके साथ किसी प्रकारका असत्य व्यवहार
नहीं करता है। अपना ही धन बैंकमें रखना, हिसाबमें रखना, संपदाकी
बढ़ोतरी करना, कमाई करना, आजीविका के साधनोंकी संभाल बनाना,
सारे व्यवहार न्यायनीतिसे करता है, सो जो धन कमानेका उसका प्रसंग
है यह भी अध्यात्मदृष्टिमें अपराध है। असत्यतासे, बेईमानीसे धन
कमाना यह तो प्रकट अपराध है ही किन्तु बड़ी नीतिसे भी रहे, लेकिन
परपदार्थोंकी ओर दृष्टि हो, उनकी रक्षा का यत्न हो, उनमें ममत्व हो
वे सब अपराध माने गये हैं। अध्यात्मभूमिमें केवल सहज ज्ञानानन्दस्वरूप
आत्मतत्त्वकी उपासनाको निरपराध कहा गया है, इसको छोड़कर किसी
भी बाह्यतत्त्वमें अभिमुख होना, उसकी ओर ममता होना, ये सब अपराध
कहे जाते हैं। गृहस्थजन ऐसे अपराध करते हुए भी निरपराध कारण-

समयसारकी दृष्टि बनाया करते हैं, उसके प्रतापसे सब
होते चले जाते हैं। जो अज्ञानीपुरुष अपराधकी प्रवृत्ति
निरपराध आत्मस्वभावकी दृष्टि भी न करें, ऐसे पुरुष तो पृ
ही हैं, अनन्त संसारके पात्र हैं।

करनेसे स्वर्ग मिल सकता है ऐसे ही व्रत तप संयम बाह्यरूप करनेसे स्वर्ग मिल सकता है। कोई आश्चर्यकी बात नहीं है पर मोक्षमार्ग और स्वर्गमें विलक्षण अन्तर है। स्वर्गमें भी शांति या आनन्द निराकुलता नहीं है। मन वहां भी है और भोगोंकी वाञ्छाएँ वहां भी जगती हैं। जहां परपदार्थों को विषय बनाकर भोगोंकी इच्छा बने वहां निराकुलता कैसे रह सकती है, किन्तु मोक्षमार्गमें अपने निराकुल आत्मस्वरूपकी सुध रहनेके कारण शांति रहा करती है, उसके मोक्षमार्ग चलता है।

मूढ़तामें हितका अदर्शन— भैया! अपने आपकी ओर मुड़कर जरा निरखिये तो सही, सब कुछ सिद्धि अपने आपमें हाजिर खड़ी हुई है। दुःख तो बुलाये, बुलाये आया करते हैं और शांति पहिलेसे ही हाजिर खड़ी है, आपकी दृष्टिकी प्रतीक्षा कर रही है, लेकिन यह व्यामोही जीव बुलाये-बुलायेसे आने वाले दुःखका स्वागत करनेमें अभ्यस्त है और स्वयं ही जो शांतस्वभावी स्वरूप है, सदा अपने आप जो तैयार खड़ा हुआ है उसकी ओर दृष्टि भी नहीं करता है। मोह और मूढ़ता इसको ही कहते हैं।

मूढ़चतुरका अर्थ— भैया! लोकमें चतुर कहे जाने से लाभ क्या है? मूढ़पुरुषोंने जिसे चतुर कहा हो वह तो मूढ़ोंका ही चतुर कहलायेगा, वास्तविक चतुर न कहलायेगा। जैसे कोई कहे कि आप तो बदमाशोंके राजा हैं और राजा नाम सुनकर वह खुश हो कि देखो इसने हमारी कितनी बढ़ाई की है कि यह तो बदमाशोंका राजा है। अरे कहा क्या गया है कि यह अव्वल नम्बरका बदमाश है, जितने बदमास हैं उन सबका यह मुखिया है। इसको सुनकर कोई प्रशंसाकी बात मान ले तो उससे बढ़ कर मूर्ख क्या होगा? ऐसे ही जो मोही जीव व्यामोही मूढ़ पुरुषोंमें जो चतुर कहलाये वह उन मूढ़ पुरुषोंमें चतुर है, मूढ़ोंका राजा है, मूढ़ोंमें श्रेष्ठ है। उसका अर्थ यह है कि यह मूढ़ है, उसे सुनकर कोई खुश हो जाय तो उसे मोही मूढ़ ही समझना चाहिए। यहांके लोगोंकी बातपर यहांके मोही पुरुषोंकी राय पर हम चतुर कहलायें तो उस चतुराईका अर्थ मूढ़ता ही होगा। कोई वास्तविक चतुराई न कहलायेगी। सारा जहान मेरे बारे में कुछ भी सोचे, मुझे पागल सोचे, बुरा जाने किन्तु यह मैं अपने आपमें अपने आपके शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें लीनता पाता हूं, उसही उपासनामें रत रहना चाहता हूं, ऐसा ही यत्न किया करता हूं। तो मैं सबका बुरा होकर भी मोक्षमार्गके लिए भला हूं।

विकट गोरखधंधा— यह जगत गोरखधंधा है। ... में

समयसारकी दृष्टि बनाया करते हैं, उसके प्रतापसे सब अपराध माफ होते चले जाते हैं। जो अज्ञानीपुरुष अपराधकी प्रवृत्ति भी करें और निरपराध आत्मस्वभावकी दृष्टि भी न करें, ऐसे पुरुष तो पूर्ण अपराधी ही हैं, अनन्त संसारके पात्र हैं।

निरपराधतामें अनाकुलताका स्वाद— जहां आत्मामें आराधना नहीं है वे सब अपराध हैं। जहां शुद्ध समताका, अनाकुलताका स्वाद नहीं आ रहा है वे सब अनुभवन अपराध हैं। किसी भी बाह्य प्रसंगमें चाहे वे बड़ी सच्चाईके साथ भी जुट रहे हों किन्तु उनसे पूछो कि क्या तुम इस समय निराकुलतामें हो? तो उत्तर मिलेगा कि निराकुलता तो नहीं है। निराकुलता तो रागद्वेषरहित केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें ही है। जहां निराकुलता है, वास्तविक सहज परम आल्हाद है वहां ही आत्माकी आराधना है और वही जीव निरपराध कहलाता है। यह प्रकरण चल रहा है परमार्थप्रतिक्रमणका। अर्थात् लगे हुए दोष हमारे कैसे दूर हों? इसके उपायमें यह परमार्थप्रतिक्रमण कहा जा रहा है। साधुजन व्यवहारमें अपने दोष आचार्यसे कहते हैं और आचार्य महाराज उसको प्रायश्चित्त देवें, वह उस प्रायश्चित्तका पालन करे और विधि सहित प्रतिक्रमण पाठ करले, ये सब व्यवहारप्रतिक्रमणकी बातें हैं। यह व्यवहारप्रतिक्रमण भी उसका व्यवहारप्रतिक्रमण कहलाता है जिसे निश्चयप्रतिक्रमणकी सुध है। ऐसे ही पुरुष व्यवहारप्रतिक्रमणमें प्रवृत्त होकर इसमें ही बीचों बीच अथवा आगे पीछे जब कभी भी इस निरपराध सहज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वकी अनुभूति प्रतीति करते हैं, इसका ही आलम्बन करते हैं, वहां ही उन्हें परमनिराकुलताके दर्शन होते हैं और लगे हुए दोषोंका वहां प्रतिक्रमण हो जाता है।

निश्चयप्रतिक्रमणके स्पर्श बिना वास्तविक शान्तिका अविकास— दोषोंका पुञ्ज यह आत्मा उन दोषोंको दूर करने के लिए किसी बाहरी क्रियामें, बाहरी प्रवृत्तिमें अपना मन लगाए तो बाह्य प्रवृत्तिमें, बाह्य कामों में उपयोग लगाना भी तो खुद एक दोष है। उस दोषके द्वारा दोषका प्रतिक्रमण नहीं किया जा सकता। हां निर्दोष आत्मतत्त्वकी सुध रखते हुए प्रवर्तमान रागमें जो व्यवहारविधिसे बाह्य क्रियावोंमें प्रवृत्ति हो रही है वह दोष होते हुए भी व्यवहारमें चूँकि निश्चयका शरण मिला है ना, सो वह प्रतिक्रमण कहलाने लगता है, परन्तु जिसे इस निश्चयस्वरूपकी सुध भी नहीं है वह कितने भी व्रत करे, तप करे, प्रायश्चित्त करे, कुछ भी करे, किन्तु मोक्षमार्गकी बात वहां नहीं आ सकती है। जैसे जीवदया

करनेसे स्वर्ग मिल सकता है ऐसे ही व्रत तप संयम बाह्यरूप करनेसे स्वर्ग मिल सकता है। कोई आश्चर्यकी बात नहीं है पर मोक्षमार्ग और स्वर्गमें विलक्षण अन्तर है। स्वर्गमें भी शांति या आनन्द निराकुलता नहीं है। मन वहां भी है और भोगोंकी वाञ्छाएँ वहां भी जगती हैं। जहां परपदार्थों को विषय बनाकर भोगोंकी इच्छा बने वहां निराकुलता कैसे रह सकती है, किन्तु मोक्षमार्गमें अपने निराकुल आत्मस्वरूपकी सुध रहनेके कारण शांति रहा करती है, इसके मोक्षमार्ग चलता है।

मूढ़तामें हितका अदर्शन— भैया! अपने आपकी ओर मुड़कर जरा निरखिये तो सही, सब कुछ सिद्धि अपने आपमें हाजिर खड़ी हुई है। दुःख तो बुलाये, बुलाये आया करते हैं और शांति पहिलेसे ही हाजिर खड़ी है, आपकी दृष्टिकी प्रतीक्षा कर रही है, लेकिन यह व्यामोही जीव बुलाये-बुलायेसे आने वाले दुःखका स्वागत करनेमें अभ्यस्त है और स्वयं ही जो शांतस्वभावी स्वरूप है, सदा अपने आप को तैयार खड़ा हुआ है उसकी ओर दृष्टि भी नहीं करता है। मोह और मूढ़ता इसको ही कहते हैं।

मूढचतुरका अर्थ— भैया! लोकमें चतुर कहे जाने से लाभ क्या है? मूढ़पुरुषोंने जिसे चतुर कहा हो वह तो मूढ़ोंका ही चतुर कहलायेगा, वास्तविक चतुर न कहलायेगा। जैसे कोई कहे कि आप तो बदमाशोंके राजा हैं और राजा नाम सुनकर वह खुश हो कि देखो इसने हमारी कितनी बढ़ाई की है कि यह तो बदमाशोंका राजा है। अरे कहा क्या गया है कि यह अव्वल नम्बरका बदमाश है, जितने बदमास हैं उन सबका यह मुखिया है। इसको सुनकर कोई प्रशंसाकी बात मान ले तो उससे बढ़ कर मूर्ख क्या होगा? ऐसे ही जो मोही जीव व्यामोही मूढ़ पुरुषोंमें जो चतुर कहलाये वह उन मूढ़ पुरुषोंमें चतुर है, मूढ़ोंका राजा है, मूढ़ोंमें श्रेष्ठ है। उसका अर्थ यह है कि यह मूढ़ है, उसे सुनकर कोई खुश हो जाय तो उसे मोही मूढ़ ही समझना चाहिए। यहांके लोगोंकी बातपर यहांके मोही पुरुषोंकी राय पर हम चतुर कहलायें तो उस चतुराईका अर्थ मूढ़ता ही होगा। कोई वास्तविक चतुराई न कहलायेगी। सारा जहान मेरे बारे में कुछ भी सोचे, मुझे पागल सोचे, बुरा जाने किन्तु यह मैं अपने आपमें अपने आपके शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें लीनता पाता हूं, उसही उपासनामें रत रहना चाहता हूं, ऐसा ही यत्न किया करता हूं। तो मैं सबका बुरा होकर भी मोक्षमार्गके लिए भला हूं।

विकट गोरखधंधा— यह जगत गोरखधंधा है। जैसे गोरखधंधेमें

जरा भी हाथ लगाया और वह कड़ा छड़ा निकल जाय, फंस जाय, तब निकल जाय तो फंसा नहीं सकते, फंस जाय तो निकाल नहीं सकते, ऐसे ही यह जगत, ये मायामयी सम्पदाएँ, यह मायामयी सम्पदावोंका समाज इस गोरखधंधेमें किसी भी प्रकारकी घुस पैठ करे तो इसका परिणाम दुःखद ही होता है। जैसे थोड़ा रिपटे किसी जगहमें तो उसे पूरा रिपटकर गिरना ही पड़ता है। रिपटनेके बीचमें सावधान होकर संभल जाना अत्यन्त कठिन बात है। रिपट न सके जब तक सावधानी बनाए तब तो भला है किन्तु थोड़ा पैर रिपटा तो फिर सावधानी बनाना कठिन हो जाता है। संभव है कि एक पैर अच्छी जगह रखा हो और दूसरा पैर थोड़ा रिपटे तो सावधानी कुछ हो भी सकती है। पर जहां मैदान है, कीचड़ भरा हुआ है, दोनों ही पैर रिपटते हैं तो वहां बचना कठिन है। ऐसी इस मायामयी दुनियामें मोही समाजमें कीचड़ भरा क्षेत्र है, इसमें बाहरी पोजीशन रखने की रिपट हो और अंतरंगमें उसकी चाहकी रिपट हो तो जहां दोनों ही पैर रिपट रहे हों उस जीवमें सावधानी आ जाना बहुत कठिन बात है।

निरपराधकी संकटमुक्तता— जो मनुष्य बाहरी पोजीशन बाहरी वृत्तियोंमें न उलझते हों और आत्माकी आराधनाकी ओर उन्मुख हों तो उन पुरुषोंके परमार्थप्रतिक्रमण होता है, क्योंकि वह जीव स्वयं परमार्थ-प्रतिक्रमणमय है। राधाका अर्थ सिद्धि है। राधा शब्दमें राधृ संसिद्धौ धातु है उससे निष्पन्न राधा, राध व राधन शब्द है जिसका अर्थ सिद्धि होता है। आत्मसिद्धि, आत्मराधा ये शब्द एकार्थक शब्द हैं। जहां राधा नहीं रहती है उस भावका नाम अपराध है। जहां राधा बनाये रहते हैं उस परिणामका नाम निरपराध है, प्रतिक्रमण है, समृद्धि है। राधाका अर्थ है आत्मशुद्धि, आत्मदृष्टि, आत्मसमृद्धि अनाकुलताकी अनुभूति। जो जीव इस सिद्धिसे च्युत है वही अपराधी है। जो अपराधी है सो शंका, भय, शोक, चिंता सभी दण्डोंका अधिकारी है। जो निरपराध है वह समस्त दण्डोंसे दूर है।

बाहर विपदाका अभाव— भैया! कहां है दुःख? जहां अपने आपको देहसे भी न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र निहारा वहां एक भी तो संकट नहीं रहता है। जहां इस परमार्थ वास्तविक आत्मस्वरूपसे चिगकर बाह्यपदार्थोंकी ओर लगा बस वहां सारे संकट आ जाते हैं। इस उपयोगमें अनात्मतत्त्वका कुछ भी चिंतन करना, कुछ भी कल्पना बनाना, वह सारा संकट है। आत्माका संकट बाहर कहीं नहीं है। कोई मकानकी मंजिल गिर गयी गिर जाने दो, वह मकान अलग सत् है, मायामय है, पुद्गलका

ढेर है, यह आत्मा आकाशवत् निर्लेप अमूर्त ज्ञानानन्दमय श्रेष्ठ तत्त्व है। क्या हो गया यहां ? किन्तु जहां इसने ममत्व परिणाम किया, परपदार्थों में यह ममत्व नहीं कर सकता, किन्तु परपदार्थोंको विषय बनाकर अपने आपके श्रद्धाचारित्र गुणोंमें उपयोग बनाया, बस लो यह विकार विपदा बन गयी। मकान गिरना विपदा नहीं है, धनकी कमी हो जाना विपदा नहीं है। किसी पुरुषके द्वारा गालीगलौजकी चेष्टा हो जाना विपदा नहीं है, बाहरमें रंच भी विपदा नहीं है, अपने आत्मप्रदेशसे बाहर एक प्रदेश भी आगे कहीं विपदा नहीं है। विपदा तो अपने परिणाममें हमलोग जो कुछ किया करते हैं, अहंकार और ममकारका जो परिणाम बनाया गया है वह विपदा है, वह संकट है।

विपदाविनाशिनी दृष्टि-- भैया ! इस विपदाको कौनसा परपदार्थ मिटा सकता है ? जब किसी परपदार्थसे मुझमें विपदा ही नहीं आती तो किसी परपदार्थका यह भी अधिकार कैसे हो सकता है कि मेरी विपदाको दूर करदे। अरे मैं ही व्यर्थके विकल्प बनाकर विपदा बना रहा हूं ना। यह मैं भ्रम त्यागकर निरपराध चित्प्रकाशमय, चित विलासात्मक आत्मतत्त्वको निहारूँ तो मैं सर्व संकटमुक्त हूं। आत्माका कार्य केवल जानन देखन और आनन्दमय रहनेका है, इसके आगे कहीं कुछ दौलत ही नहीं है। परमाणु मात्र भी इसका कहीं कुछ नहीं है। ऐसी जहां दृष्टि जगी अपने आपकी, ऐसे शुद्ध प्रकाशका दर्शन हुआ कि सारे संकट एक साथ तुरन्त बुझ जाते हैं।

निरपराधदर्शनमें परमार्थप्रतिक्रमण-- ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र अपने आत्मतत्त्वकी दृष्टिमें जो जगता है, वह निरपराध है, उसका बंधन नहीं होता किन्तु जो अपने आपको असत्यरूप मान रहा है वह अपराधी है। वह निरन्तर अनन्त कर्मोंको बांधता रहता है। एक शुद्ध सहज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि प्रतीति उपासना करने वाले पुरुष निरपराध हैं और वे सर्व प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होते हैं। जो ऐसे कारण परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है वही निरपराध पुरुष कर्मोंके परित्यागमें समर्थ होता है। निष्कर्ष, ज्ञानमात्र अपने आपको निहारनेमें परमार्थप्रतिक्रमण होता है।

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिक्कमणमओ हवे जम्हा ॥८५॥

प्रतिक्रमणपात्र-- अनाचारको छोड़कर जो आचारमें स्थिरताको करता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि वह जीव प्रतिक्रमणमय है।

यह सब प्रकरण परमार्थप्रतिक्रमणका है। परमार्थप्रतिक्रमण कहो या निश्चयप्रतिक्रमण कहो दोनों ही एकार्थक शब्द हैं। जो निश्चय आचारके आचरनेमें दक्ष हैं ऐसे महात्माके ही निश्चयप्रतिक्रमण होता है। निश्चय आचरण कहो या परमउपेक्षासंयम कहो, किसी भी वस्तुमें रागद्वेष न हो, सबका मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहे, अपने आपको ज्ञानप्रकाशमात्र निरखे, ऐसे पावन निष्कलंक आत्माके निश्चयप्रतिक्रमण होता है।

गृहस्थोंका आचार— आचार क्या चीज है? इसकी व्याख्या दृष्टिके अनुसार होती है। लौकिक दृष्टिमें गृहस्थजनोंके जो ५ अणुव्रतका यत्न है उसके विरुद्ध जो आचरण है वह अनाचार है। किसी पर अन्याय करना, किसीका दिल दुखाना, अहित करना, बुरा सोचना, झूठी गवाही देना, झूठा लेख लिखना, चोरीका उपाय बताना, चोरी किए हुए मालका खरीदना आदिक अनेक दुराचरण हैं। परस्त्रीको, वेश्याको, परनारीको बुरी दृष्टिसे, विकारभावसे निरखना, परिग्रहका संचय करना, तृष्णा रखना, किसी योग्य परोपकारमें व्यय न कर सकना और कुपकारमें धन खर्चना ये सब अनाचार हैं। इन अनाचारोंसे जो दूर हैं और गृहस्थोंके योग्य अहिंसामें रहता है, सत्य, प्रिय, हित वचन बोलता है, न्याय विधि से धन कमाता है, स्वस्त्रीमें संतोष रखता है, परिग्रहकी तृष्णामें नहीं रहता है ऐसा पुरुष आचारवान् है। यह तो गृहस्थ योग्य व्याख्या है। इस आचारमें रहने से निश्चयप्रतिक्रमण नहीं होता है। हां, व्यवहारमें दोषशुद्धि यथापद है ही।

साधुओंका आचार— इससे आगे चलकर साधुसंतोंका आचरण देखो। साधुसंतोंके सर्वप्रकारकी हिंसाका त्याग है, उनकी सर्ववृत्तियां सर्व प्रवृत्तियां अहिंसामयी होती हैं। सत्यमहाव्रत भी है। गृहस्थ यदि न्याय नीतिसे रोजगार करें, उसमें भी वे आत्महितके लिए जो वचन आवश्यक हैं वे बोलें, अनावश्यक वचनोंका परिहार करें, ऐसे आरम्भविषयक सत्य वचनोंका भी परिहार सत्य महाव्रतमें हो गया। अचौर्यमहाव्रत इसमें सर्व प्रकारसे चौर्यभावका परित्याग है, स्त्री मात्रका त्याग है, पूर्णशीलव्रत है बाह्य परिग्रहोंका भी त्याग है। एक व्रत तप संयममें जिनकी प्रवृत्ति रहती है ऐसे साधुवोंके इस प्रवर्तनको भी आचार कहते हैं।

निश्चय आचार— भैया! यह यथापद आचारकी बात है। निश्चय आचारमें तो यह ग्रहण करना कि शुद्ध आत्माकी आराधनासे व्यतिरिक्त जो कुछ भी प्रवर्तन है वह सब अनाचार है। निश्चयकी दृष्टिमें कहा जा रहा है यह जिस आचरणमें निश्चय प्रतिक्रमण होता है उस आचरणके

प्रकरणमें यह बात बतायी जा रही है कि रागद्वेष न करके मात्र ज्ञाताद्रष्टा
रहनेकी स्थिति होना यह है निश्चय आचरण। शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी
आत्मतत्त्वकी श्रद्धा और इस ही ज्ञायकस्वरूपका परिज्ञान और इस ही
ज्ञानस्वरूपमें अभेदोपयोगी, उस निश्चयचारित्र स्वरूप, परम उपेक्षा
संयमी जीवके निश्चयप्रतिक्रमण होता है। सर्व दोषोंको दूर करना है
ना ? दोषरहित शुद्ध सहज स्वरूपके दर्शनमें ही, उसमें स्थिर होनेमें ही
दोष सर्वथा दूर हो सकते हैं।

शुभ अशुभ विकार-- मानलो बड़ी जीवदया करके प्रासुक जमीन
निरखकर आगे चले जा रहे हैं दयालु, बात तो अच्छी कर रहा है यह,
परंतु जीवदयाका परिणाम करना, बाह्यकी ओर अपना उपयोग देना यह
आत्माका निश्चयशुद्ध आचार तो नहीं है। यदि आत्माका यह निश्चय
शुद्ध आचार होता तो सिद्धोंको भी यह करना चाहिए. यह भी विकारभाव
है। कोई अशुभविकार होते हैं, कोई शुभ विकार होते हैं। अशुभभाव और
शुभ भाव हैं ये दोनों ही विकार हुए जैसे कि सुख और दुःख ये दोनों
विकारभाव हैं। भले ही जीवको व्यामोहके कारण दुःख बुरा लगता है
और सुख भला लगता है। मिष्ट भोजन अपने मनके अनुकूल बना तो
उसको खाकर चैन मानते हैं, पर परमार्थदृष्टिसे देखो तो दुःखमें भी इस
जीवने कोई कल्पना बनायी और सुखमें भी इस जीवने कोई कल्पना
बन यी। दोनों ही विकार भाव हैं। ऐसे ही जो अशुद्ध पदार्थ हैं, विषयों
की प्रवृत्ति है वह तो अशुभ है ही, विकार है ही, किन्तु जो भक्ति, दया,
दान, उपकार, पढ़ाना, शिक्षा देना, दीक्षा देना, समितिका पालन करना
आदि कार्य हैं ये सब भी जीवके विकारभाव हैं।

निश्चयचारित्र और प्रतिक्रमण-- अविकार भावोंमें रमना सो
निश्चयचारित्र है और विकार भाव होना यह निश्चयचारित्र नहीं है। तो
भी मोक्षमार्गकी अपात्रता बनाने वाले विषयकषायों से बचा लेते हैं, सो
वह सब व्यवहार आचरण है। सर्वप्रकारके विकारभावोंसे अपनेको हटाना
और अविकारस्वभावी ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र आत्मतत्त्वके उपयोगको
स्थिर करना यह निश्चयचारित्र है। इस स्थितिमें सर्वप्रकारके दोष टल
जाते हैं। शुद्ध आत्माके आलम्बनको छोड़कर ऐसी जितनी भी योग और
उपयोगकी प्रवृत्तियां हैं वे सब परमार्थदृष्टिसे अनाचार हैं। उन सब
अनाचारोंको छोड़कर शुद्ध आचारमें जो स्थिरता लेते हैं ऐसे साधुसंत
ऐसे महात्मा प्रतिक्रमण कहलाते हैं।

अलौकिक तत्त्व-- वह आचार क्या है जिसमें स्थिर होनेपर

निश्चयप्रतिक्रमण होता है ? वह आचार है अपना जो सहज चित्स्वरूप है अथवा द्रव्यत्व गुणके कारण शुद्धविलासात्मक जो अपना स्वरूप है, परमविविक्त, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इन समस्त कलंकोंसे रहित, केवल ज्ञानमात्र जो अपना स्वरूप है। पारिणामिक भाव है। उसमें स्थिर होना अर्थात् इस कारणपरमात्मतत्त्वकी भावना रूप अन्तर्वर्तन होना, सहज वैराग्य भावनारूप प्रवृत्ति रहना यही है निश्चयचारित्र। निश्चयचारित्रवान् साधु प्रतिक्रमणस्वरूप होता है यही परम तपश्चरण है। यही साधुका धन है, सर्वोत्कृष्ट वैभव है। अपने आपमें शाश्वत प्रकाशमान् शुद्ध ज्ञानस्वभाव ज्ञानस्वरूप चिद्विलास ज्ञानप्रकाश दृष्टिमें आये, उसही में अलौकिक आनन्द भरा है। इस यत्नको छोड़कर अन्य जितने भी यत्न हैं वे सब कुछ न कुछ आकुलताको ही लिए हुए रहते हैं। यह ज्ञानीसंत जो सहज वैराग्य परिणत है वह परम समता भावमें रमा हुआ है। केवल जाननहार रहना यही तो समता है, यही उत्कृष्ट त्याग है, यही अपने आपको सुखी रखनेका उपाय है, यही आत्मकल्याणका अलौकिक तत्त्व है।

शान्तिका प्रसाधन— यह अलौकिक तत्त्व लौकिक बातोंसे नहीं मिलता। यह मायामय जगत्, ये विभाव मलीमस जीव इसमें जो रहा करते है, इनकी संगति करना, रागद्वेष भरी वासनाएँ अपने आपमें भी वासित करना, इस प्रकारके उत्पन्न किए गए विकार भावोंसे शांति नहीं प्राप्त हो सकती। आत्मशांति आत्मस्वभावकी आराधनामें ही है, अन्यत्र नहीं है। भले ही अन्य कुछ शुभ प्रवृत्तियां यथापद कर्तव्यवश करनी पड़ती हैं, किन्तु जिन्हें अपने असली पुरुषार्थकी भी सुध है, मुझे मनुष्य जन्म पाकर वास्तवमें काम क्या करना चाहिए था ? इसकी जिन्हें सुध है उनके लिए तो गृहस्थके योग्य कर्तव्यका करना कर्तव्य कहलाता है और जिन्हें अपने आपके परमकल्याणकी सुध नहीं है उनके लिए गृहस्थीके समस्त काम कर्तव्य नहीं कहलाते हैं किन्तु व्यामोह हो जाता है।

प्रतिक्रमण और प्रतिक्रामकका अभेदरूप— यह ज्ञानी पुरुष चूँकि सहज निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप है जो कि एक निश्चय आचारमें रह रहा है उसही को प्रतिक्रमण कहा गया है। भाव और भाववान्में परमार्थसे भेद नहीं है, केवल गुणगुणीका भेद परिचयके लिए कराया जाता है। जैसे कोई कहे आगकी गरमी चाहिए। गरमीका ही तो नाम वहाँ आग है। क्या आग जुदी चीज है, गरमी जुदी चीज है ? अरे जो आग है सो आगकी गरमी है। द्रव्य है निरन्तर परिणमता है। उसकी हम विशेषता

बतायेंगे तो उसमें भेद करके ही बता सकेंगे। भेद बिना व्यवहार नहीं हो सकता है। व्यवहारका ही अर्थ भेद करना है। व्यवहरणं व्यवहार:। भेदकी प्रमुखता न करके इस शुद्ध आत्माको देखा जाय तो निश्चयरत्नत्रय परिणत निश्चय आचारमें अवस्थित यह आत्मा ही प्रतिक्रमण है, प्रतिक्रमणमय है, प्रतिक्रमण मूर्ति है।

उद्देश्यके अनुसार प्रयोजकका यत्न— जिस जीवको अपने इस महामहिम शुद्ध तत्त्वकी खबर नहीं है ऐसे जीवके धर्मका प्रारम्भ नहीं कहा गया है। बड़े-बड़े अनशन कायक्लेश करना किस लिए है? इसका प्रयोजन यथार्थ जो संकटहारी है, न विदित हो तो उसके करनेका यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता है। लोकमें कोई भी पुरुष प्रयोजनके बिना प्रवृत्ति नहीं करता है। यह धर्मकी धुन रखने वाला पुरुष भी कुछ अपना प्रयोजन रखकर अपने आचारकी प्रवृत्ति करता है, पर जो प्रयोजन सोचा हो उस की परिणतिसे अधिकसे अधिक वही प्रयोजन तो सिद्ध होगा। संसारके समस्त संकटों से विविक्त होना है, यदि यह प्रयोजन है तो इस प्रयोजनकी सिद्धिकी विधि ही यह है कि पहिले अपने, आपमें यह सुनिर्णय कर लें कि यह मैं आत्मा इस स्वभाव वाला भी हूं या नहीं? यदि यह निर्णय नहीं हो सका तो उन संकटोंसे मुक्तिका उद्यम व्यर्थ है। महिलाएँ रसोई बनाती हैं, उनका पक्का विश्वास है कि आटे से रोटी बनती है। कभी ऐसा विश्वास नहीं होता कि कहीं आज आटे से रोटी न बने। ऐसी दृढ़ श्रद्धा उनकी होती है सो वे अपने काममें सफल हो जाती हैं। यह मैं आत्मा संकट रहित शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र आत्मतत्त्व हूं या नहीं, ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्वका विशद अनुभव हो जाय तो उसका यह यथार्थ विधिमें यत्न चल सकता है कि वह कभी संकटमुक्त हो जायेगा। जिसे अपने आपके संकटविमुक्त स्वभावका ही परिचय नहीं है वह कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है। जब तक कि वह इसका परिचय न पा ले।

कर्तव्य पुरुषार्थ— हे मुमुक्षु जनों! ऐसे परमज्ञान और आनन्द अमृतसे भरे हुए इस आत्मस्वभावमें दृष्टि द्वारा अवगाहनाको करके संसारके समस्त संतापोंको दूर करो। इस लोकमें हम आपके संकटोंको दूर कर सकने वाला अन्य कुछ भी तत्त्व नहीं। इसही अपने स्वरूपसिद्ध सत्तासिद्ध सहज भावको निरखो वह तो स्वयं ही ज्ञानानन्दस्वरूप है तो इस दृष्टिमें संकट रह ही नहीं सकते हैं। ऐसे निज सहज स्वभावके अवलोकनमें, आलम्बनमें निश्चयचारित्र होता है और निश्चयप्रतिक्रमण होता है। एक इस ही पुरुषार्थसे पूर्ण साहस करके आत्मरक्षा करना कर्तव्य है।

इसके करते हुए भी इसमें स्थिरता जब-जब न हो सके तब तब यदि कुछ अन्य भी व्यवहारिक अल्प धार्मिक कार्य चलें तो वे भी सहयोग देते हैं। एक इस निजस्वरूपको जाने बिना कुछ भी यत्न जल्प किये जायें वे सब बेकार होते हैं। एक अपनी सिद्धिका कारण यह आत्मतत्त्वका अनुभवन है।

आत्मशिक्षण— भैया ! इस गाथामें आचार्यदेव यह शिक्षा देते हैं कि अपने आपमें यह निर्णय बनाये रहो। शुद्ध आत्माके ध्यानसे अर्थात् जो कुछ भी प्रवर्तन हैं वे सब बाह्य आचार हैं। इन ही बाह्य विकारोंमें अपने उपयोगको रमाना यह जन्म मरणका ही बढ़ाने वाला यत्न है। बस अनाचारको छोड़ें और सहज अनन्तज्ञान दर्शन आनन्द शक्तिस्वरूप आत्मामें स्थिर हों, और इसही शुद्ध मलहारी सुधा सिंधुमें अवगाह करके सर्व विभाव मलोंका क्षय करें और सदाके लिए संकटोंसे मुक्त हों। ऐसी स्थितिमें यह जीव लोकालोकका उत्कृष्ट साक्षी ज्ञाता द्रष्टा होता है। ऐसा इस निश्चयप्रतिक्रमण का फल है, सदाके लिए शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप बर्तते रहना। ऐसी शुद्धज्ञानानन्द वर्तनाके लिये और अपने सर्वदोषोंकी मुक्ति के लिए शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्वमें अपना उपयोग देना चाहिए।

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८६॥

जो जीव उन्मार्गका परित्याग करके जिनमार्गमें स्थिरभाव को करता है वह जीव प्रतिक्रमण कहलाता है क्योंकि वह उस समय प्रतिक्रमणमय ही है। इस गाथामें निश्चयप्रतिक्रमणके उपायोंमें उन्मार्गका परित्याग करना और शुद्ध सर्वज्ञ वीतराग देव द्वारा प्रणीत मार्गको स्वीकार करना कहा गया है।

शंकालुके निश्चयप्रतिक्रमणकी अपात्रता— जो जीव मिथ्या श्रद्धान से दूर है, सद्वचनोंमें रंच शंका जिसे नहीं है, अपने आपके सम्बन्धमें जिसे रंच भी व्यामोह नहीं है, यथार्थ शुद्ध तत्त्वको जो जानता है, सर्व प्रकारके भयोंसे रहित है ऐसे ही पुरुषके निश्चयप्रतिक्रमण हो सकता है। जो मिथ्या वचनोंमें तो मुग्ध हैं, हितमय वचनोंमें जिन्हें शंका है अथवा उनसे विपरीत हैं ऐसे पुरुष निश्चयप्रतिक्रमणके पात्र भी नहीं होते हैं। उन्मार्गका परित्याग करके जिनमार्गमें आये तो दोषोंका दूरीकरण होता है।

भोगाभिलाषीके परमार्थप्रतिक्रमणकी अपात्रता— जो पुरुष भोग विषयोंमें वाञ्छा रखते हैं, यत्न जिनका विषयोंके साधनोंके लिए ही हुआ करता है, या तो इन्द्रियके विषयोंकी साधना करना या अपने मनमें उठी

हुई अटपट कल्पनावोंको पूरा करना, यह ही जिसके जीवनका ध्येय है वहां वह विशुद्ध परिणाम कैसे जग सकता है जिसके कारण किए हुए दोष भी दूर हो सकें। जो जीव संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त हैं, केवल एक विशुद्ध चतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य कुछ जिनकी चाह नहीं है ऐसे पुरुष ही निश्चयप्रतिक्रमणका परमपुरुषार्थ प्राप्त कर सकते हैं।

जुगुप्सकके दोषशुद्धिकी अपात्रता— जो अपने दोषोंसे ग्लानि करते हैं किन्तु किसी भी परजीवसे किसी भी परधर्मात्मावोंसे ग्लानि नहीं करते हैं, परसेवामें जिनकी ग्लानिरहित प्रवृत्ति है, जो क्षुधा तृष्णा आदिक वेदनावोंसे खिन्न नहीं होते हैं, ज्ञाता द्रष्टा रहनेका यत्न रखते हैं ऐसे पावन आत्माके निश्चयप्रतिक्रमण होता है। जो दोषों को बसायें, जो दूसरोंके दोषोंको देखकर दूसरोंसे ग्लानि करें अथवा धर्मात्मावोंके पवित्र शरीरको निरखकर ग्लानि करें, ऐसे अशुद्ध अपवित्र आशय वाले पुरुषोंके निश्चयप्रतिक्रमण नहीं हो सकता है।

उन्मार्गरुचियाके दोषनिवर्तनकी अपात्रता— जो पुरुष बाह्यदृष्टि वालोंकी प्रशंसा और स्तवन किया करते हैं, मिथ्या धर्ममें अनुरक्त जीवों के लौकिक चमत्कारोंको देखकर उनकी ओर ही अपना आकर्षण बनाये रहते हैं ऐसे पुरुषोंके अपने दोषोंके दूर करनेका परिणाम ही नही होता है। जिसे मोक्षमार्ग चाहिए है, जिसकी मोक्षमार्गियोंसे प्रीति है, शुद्धतत्त्व की ही प्रशंसा और स्तुति का जिसका यत्न है ऐसे पुरुष ही दोषोंसे अपने को बिलग करके शुद्धविकास रूप बना सकते हैं। अहिंसा धर्मके अतिरिक्त अन्य प्रकारके धर्मोंमें कुधर्मोंमें जिनकी रुचि जगे और हिंसामय अथवा उन सब कुधर्मोंके मानने वालोंमें जिनका मन रमे, ऐसे पुरुष अपने दोषों को दूर करनेके अधिकारी नहीं होते।

उद्दण्ड पुरुषोंके परमार्थप्रतिक्रमणकी अपात्रता— जिन पर ऐसी उद्दण्डता छायी है कि धर्मात्मावोंके दोषोंको, हों अथवा न हों, प्रकट करने का, प्रजामें प्रचार करनेका जिनका मन चलता है अपने आपमें जो दोष हैं उनको छुपाकर अपने गुण जाहिर करनेका जिनका प्रयत्न बना रहता है ऐसे पर्यायव्यामूढ़ पुरुषोंके परमार्थदृष्टि ही नहीं होती है। फिर परमार्थ प्रतिक्रमण कहांसे हो सकेगा? जिन्हें अपनी स्थिरताका रंच भी ध्यान नहीं है, पापोंमें लगे चले जा रहे हैं, उस ओरसे रंच भी विशाद नहीं है। धर्म धारण भी करें तो जरासा उपसर्ग आने पर जरासी कठिनाई सामने आने पर धर्मकी वृत्तिसे चिग जायें और उस चिगे हुएका विशाद भी न हो, पुनः धर्ममें लगनेका उत्साह भी न हो ऐसे मन चले जीवोंके दोषोंको

शुद्ध करने वाला भाव कैसे पैदा हो सकता है ?

धर्मके द्वेषी व अप्रभावकके निश्चयप्रतिक्रमणकी अपात्रता— जिन्हें निर्दोष आत्मतत्त्वसे प्रेम नहीं है, निर्दोष गुणपुञ्ज साधु संतोंके सस्तवनमें, उनके संगमें, उनकी उपासनामें जिनका मन नहीं चाहता है और व्यसनी, पापी, मोही पुरुषोंमें मन रमा करता है। अपना तन, मन, धन सब कुछ विषयसाधनोंके लिए ही न्यौछावर कर रहे हैं ऐसे उन्मार्गगामी पुरुषोंके प्रतिक्रमणरूप धर्म कैसे हो सकता है ? यों जो अपने अनाचारके द्वारा धर्मकी अप्रभावना कर रहे हैं, धर्मसमाजमें जो कलंक बने हुए हैं ऐसे जीवोंसे प्रतिक्रमण की तो बात ही क्या व्यवहारधर्मकी भी सम्भावना नहीं है। व्यवहारधर्म भी उनका सब थोता है। निश्चयप्रतिक्रमणका पात्र वह ही पुरुष होता है जो विपरीत मार्गको तजकर सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत अहिंसामय आध्यात्मिक शुद्धतत्त्वके निर्देशक सन्मार्गमें लगते हैं उनके ही निश्चयप्रतिक्रमण हो सकता है।

सन्मार्गगामीके निश्चयप्रतिक्रमणका अधिकार— निश्चयप्रतिक्रमणका अधिकारी सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है। जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप संसारफंदसे प्रीति रखते हैं, लोकमें मेरा यश बढ़े इतने ही भावसे जिसने धर्मका भेष रखा है और आत्मतत्त्वके अपरिचयसे जिसमें विषयसाधनोंमें भी अन्तर नहीं आया, मौज रहे फिर भी साधुना कहलाये अथवा भोग न छोड़कर भी हम कल्याणके पात्र बन जायें, ऐसी भावना रखकर जो दोनों ओर अपनी गति रखे ऐसे पुरुषके परमार्थस्वरूपकी झलक कहांसे आ सकती है ? जिस दृष्टिके प्रतापसे निश्चयप्रतिक्रमण हुआ करता है। यदि सर्वदोषोंसे रहित होना है तो जो सर्वदोषोंसे रहित हैं वे जिस प्रकार मार्गसे चलकर दोषरहित हुए हैं उस मार्ग पर चलना होगा। पूर्ण निर्दोष परमेश्वर महादेवाधिदेव रागद्वेष रहित सर्वज्ञ भगवान हैं। उन्होंने अहिंसात्मक विशुद्ध आचरण अपनाया था, इस अहिंसात्मक आचरणमें कितना प्रभाव है, उस प्रभावको अहिंसातत्त्वके अपरिचयी पुरुष समझ नहीं सकते हैं।

अज्ञानीका मनगढ़न्त भाव— भैया ! अज्ञानी जीवोंकी दृष्टि तो इस मायामय जगत्की ओर रहती है। वे इस जगतमें मोही समाजमें पोजीशनकी वृद्धि और पुद्गलोंका संचय करना, इन दो बातोंमें जितनी प्रगति हो उसमें ही बड़प्पन समझते हैं, परन्तु यह कल्पित बड़प्पन है, जिस बड़प्पनके प्रयत्नमें पाप परिणाम किए जा रहे हैं और जिस पाप परिणामके फलमें भविष्यमें दुर्गति होगी, ऐसा बड़प्पन क्या बड़प्पन है ?

एक भवका बड़प्पन न रहे, यह कल्पित पोजीशन न रहे अथवा इन समागत पुद्गलोंका कुछसे कुछ हो जाय तो उससे क्या अनर्थ है ? पर एक अपने आपके शुद्ध स्वरूपकी उपासना न कर सके तो इस अनाचारके कारण इसकी ऐसी दुर्गति होगी कि जिससे फिर कल्याणकी सम्भावनाका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। आज मनुष्य है। इस मनुष्यसमाज में कहीं थोड़ा अपमान हो गया; पोजीशन घट गयी। पोजीशन क्या घट गयी? जो पोजीशन बढ़ाना चाहा था वह नहीं हो सका, जो नाम जाहिर करना चाहते थे वह नहीं हो सका, तो यह कौनसा बड़ा टोटा है ? यदि मरकर सूकर, कीड़ा मकौड़ा, पेड़ पौधे हो गये तो अपमान तो यह है, जो कल्याण करनेसे वंचित रह गए।

स्वयंका स्वयं महत्त्व— इस पर्यायमें यदि कोई दूसरा मनुष्य अपमान करके राजी होता है तो उसकी राजीके लिए तुम अपने अपमानको भी वैभव समझो। यह मायामय जगत् है, यहां अपने लिए क्या चाहना ? यहांकी दृष्टि तजकर इस अलौकिक निज कारणसमयसारकी ओर दृष्टि लगायें, यहां जैसे शुद्ध शांति संतोष हो सके वह यत्न करें, यह है वास्तविक चतुराई। परका मुँह ताकना, परकी आशा रखना, परसे अपना महत्त्व बढ़ानेकी वाञ्छा रखना, यह कितनी विडम्बना है ? अरे अपने आपको निरखो, स्वयंमें ही वह समर्थ है जिससे यह स्वयं महान् है। समुद्र विशाल और गम्भीर होता है, वह कहीं छोटी-छोटी नदियोंके द्वारा स्तुति किए जाने से विशाल नहीं है। वह तो स्वयं ही विशाल है। छोटी तलैयोंकी निन्दा किए जानेसे कहीं समुद्रकी महत्ता नहीं है। वह तो अपने आप विशाल गम्भीर है। इसी प्रकार अपने इस आनन्ददाता परमैश्वर्यसम्पन्न आत्मप्रभुको निरखो, इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको देखो। यह स्वयं महान् है। इस मायामयी दुनियाके इन मोही मायामयी पुरुषोंके द्वारा कुछ नाम ले देने से, कुछ प्रशंसा किए जानेसे तुम महान् नहीं हो। तुम तो स्वरूपसे ही स्वयं महान् हो। पूर्ण निराकुल तुम्हारा स्वभाव है, सर्वविश्वको जानने देखनेका तेरा स्वभाव है।

व्यर्थकी अटक— एक कहावतमें कहते हैं कि हाथी तो निकल गया पूछ अटक गयी, ऐसे ही इस धर्मधारणके लिए कितना तो त्याग कर रहे हैं— पूजा करना, भक्ति करना, सत्संग करना, दान देना, दया करना, बहुत-बहुत तो काम कर रहे हैं पर एक अपनी पर्यायका ऐसा व्यामोह लगा रक्खा है कि यह मैं हूं कुछ। इस पर्यायको ही माना कि यह मैं हूं। एक इस दुर्भावमें यह ऐसा अटक गया है जो कि व्यर्थका दुर्भाव था,

उसमें ऐसा अटक गया कि जिसका निकाल करना कठिन हो रहा है। अरे अनन्तों भव पाये, उन भवोंमेंसे एक भी मनका ठाठबाट न रहा, न एक ही भवका परिचय समागम रहा तो इस भवका भी ठाठ, इस भवका भी परिचय क्या रह सकेगा ? समझलो, मेरा यह भी भव व्यतीत हो चुका है, अब मैं दूसरे भवमें हूं तब इस भवकी बात मेरे लिए कुछ न रही।

द्विज महापुरुषके निश्चयप्रतिक्रमण-- जो जीवनमें भी अपने आप की पुरानी घटनावोंको त्याग देते हैं अथवा पुराने समस्त संस्कारोंको हटा देते हैं उन ही पुरुषोंको तो द्विज कहते हैं। द्विज मायने साधु, दूसरी बार जन्म लिया है जिसने उसको साधु कहते हैं। पहिला जन्म तो उसने अपनी मां के पेटसे लिया था और उस जीवनमें परिचयी पुरुषोंसे स्नेह किया था। द्वेष विरोध, ईर्ष्या आदि किया था, उनमें अपना नाम चाहा था, ये सारी बातें हुई थीं, अब यदि अपने आपको इस जीवनसे मरा हुआ समझ लीजिए, मैं इतने जीवनको खतम कर चुका हूं, मर गया हूं, अब मैं कल्याणके लिए आत्मसाधनाके लिए ही बना हुआ हूं, ऐसे वर्तमान माफिक जिसकी बुद्धि बनी है, पुराने संस्कारोंको, पुरानी बातोंको, पुराने संकोचों को, पुरानी लाजोंको, इच्छाको, इन सबको दूर कर दिया है इस प्रकारका जिसका दूसरा जन्म हो जाता है, एक ही भवमें जिसका दूसरी बार जन्म होता है ऐसे साधुसंत पुरुष इस निश्चयप्रतिक्रमणके अधिकारी हैं।

विशुद्ध व्यवहारमार्गकी स्वीकारता— जो निर्दोष सर्वज्ञ भगवान ने मार्ग अपनाया था उसी मार्गमें स्थिर परिणाम जो करेगा सो ही निश्चयप्रतिक्रमणरूप होगा। प्रभुका मार्ग था उनका उपदेश है। अपने आत्मतत्त्वका परिचय पावो, सर्व परपदार्थोंका विकल्प दूर करके विशुद्ध चित्स्वभावमें अपनी दृष्टि लगावो। वैसी ही रति करो, वैसी ही तृप्ति करो और ऐसे आत्मरमणके पुरुषार्थसे सर्वकलंकोंको धो डालो। ऐसा पुरुषार्थ करते हुएमें जब तक यह पुरुषार्थ पूर्ण नहीं बन जाता है और उसके बीच बीच शरीरधर्म भी लगा हुआ है अर्थात् भूख लगे तो भोजन भी देना आवश्यक बन गया है, प्यास लगे तो उसकी भी वेदना शांत करना आवश्यक हो गया है अथवा चलना फिरना बिहार करना जरूरी है, एक स्थान पर रहनेसे रागद्वेष परिचय ये सब बढ़ जाया करते हैं, वह कल्याणार्थी पुरुषोंके लिए भली बात नहीं है, इस कारण विहार भी आवश्यक है। ऐसी स्थितिमें जो वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिसे विनिर्गत जो मनःपर्यय ज्ञानधारी गणेशों द्वारा प्रकट किया हुआ है ऐसे इस विशुद्ध मार्गको स्वीकार करना चाहिए।

सन्मार्गविहारकी आवश्यकता-- वीतराग परमविजयी भगवानका निर्दिष्ट मार्ग है ५ महाव्रतोंका पालन करना, पंचसमितियोंका पालन और तीन गुप्तियोंका पालन। जिसके विषयमें इससे पहिलेके अधिकारमें विस्तृत वर्णन आया था। इन तेरह प्रकारके चारित्रोंका जो विधिपूर्वक पालन करता है, पंचेन्द्रियके विषयोंका निरोध करता है, अपने आवश्यक कार्यमें सावधान रहता है ऐसा पुरुष ही निश्चयप्रतिक्रमण करनेका पात्र होता है। निश्चयप्रतिक्रमणके लिए उन्मार्गका त्याग करना और अहिंसामय सन्मार्गका स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

निश्चयप्रतिक्रमणमें अधिकारीकी सहज व्यवहारवृत्तियां— निश्चय प्रतिक्रमणका अधिकारी वह संत है जो शुद्ध व्यवहार मार्गमें भी दक्षता रखता हो। आत्मकल्याणके परम अधिकारी ज्ञानीपुरुषकी जो प्रवृत्तियां हैं जिन्हें कि २८ मूल गुणोंके आधारसे बताया जाता है उन प्रवृत्तियोंमें जो स्थिर परिणाम करता है वही मनुष्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप होता है। २८ मूलगुण जान बूझकर परिश्रम करके धारण करनेकी चीज नहीं है किन्तु जिसे ज्ञानस्वभावकी तीव्र उत्सुकता हो जाती है, ज्ञानस्वभावकी दृष्टिका तीव्र रुचिया हो जाता है उसकी सहज ही ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वह हिंसासे सर्वथा दूर रहता है। झूठसे, चोरीसे, कुशीलसे, परिग्रहसंचयसे, तृष्णाभावसे अत्यन्त दूर रहता है, यह उसकी सहज वृत्ति बन जाती है। मैं मुनि हूं, मुझे झूठ न बोलनी चाहिए, मुझे चोरी न करना चाहिए, मुझे पूर्ण शीलव्रतसे रहना चाहिए, इस प्रकारके परिणामोंसे जो ये व्रत आदिक धारण किये जाते हैं वे जान बूझकर जबरदस्ती किएकी तरह होते हैं, पर ज्ञानी संतके चूँकि निज सहज ज्ञानस्वभावमें रुचि हुई है और उसके ही अवलोकनका यत्न हो रहा है उसके ये बातें सहज हो जाती हैं।

परमज्ञानीका सहज समितिपालन-- परमार्थ ज्ञानस्वरूपका आराधक पुरुष विहार तभी करेगा जब कोई समनाका प्रयोजन हो और विहार उसी समय करेगा जिस समय किसी जीवको बाधा न हो सकती हो। वह बड़े शुद्ध भावोंसे विहार करेगा। लो यह ज्ञानीके सहज व्यवहार प्रवृत्ति बन गयी। इसमें कष्टका क्या काम है? वह वचन तब बोलेगा जब यह देखेगा कि इस समय स्व और परके हितके लिए कुछ बोलना आवश्यक है और बोलेगा भी तो हित मित प्रिय वचन। उसकी यह वृत्ति सहजवृत्ति हो गयी है। ऐसे ही आहारपानकी समिति, चीज धरने उठानेकी प्रवृत्ति और मलमूत्रादिक क्षेपणकी प्रवृत्ति उसके सावधानी सहित हो जाया करती है।

परमार्थज्ञानीका गुप्तिपालन— ऐसा ज्ञानी पुरुष यत्न तो मन, वचन कायके गुप्त रखनेका ही किया करता है। मन, वचन, कायकी क्रियाएँ न हों, इनमें तरंग न उठें, इन क्रियावोंमें विराम लेकर शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका ही अनुभव करें ऐसी वृत्ति ज्ञानीके तो प्रमुखतासे हुआ ही करती है, क्योंकि वह ज्ञानस्वभावकी उपासनाका उद्यमी हुआ है और जब तक मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियोंसे विराम नहीं लिया गया तब तक निष्क्रिय स्वभावमें अर्थात् योगरहित मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति ही नहीं बन सकती है। इस कारण साधुसंतोंका यह प्रमुख ध्येय है कि योगप्रवृत्तियोंसे दूर हटकर योगरहित नीरंग निस्तरंग ज्ञानस्वभावकी उपासनामें रहें।

ज्ञानीका विषयवैराग्य — जो पुरुष इस परमार्थ कारणसमयसारका इतना तीव्र रुचिया होता है उसे अन्य विषयोंसे क्या प्रयोजन होगा? पंचेन्द्रियके विषयोंमें छूना, खाना, सूँघना, देखना, सुनना अथवा मनके विषयोंमें उसकी जागृति नहीं रहती है, प्रवृत्ति नहीं रहती है जो इन्द्रियका विजयी है, विषयवासनावोंकी जहां साधना नहीं है, ऐसा पुरुष ही परमार्थस्वरूपका परमदर्शक होता है।

ज्ञानीके सहज व्यवहार आवश्यक— ऐसा ज्ञानी पुरुष करने योग्य कामोंमें, प्रभुपूजा, प्रभुवंदन, प्रभुस्तवनमें, अपनी प्रतिक्रमण आदिक नित्य क्रियावोंमें सावधानी आदिमें अधिकाधिक प्रवृत्त होता है। सर्वप्रकारके बाह्य तथा आभ्यंतर समागमोंसे दृष्टि हटाकर परम उपेक्षा रखकर अंतःस्वभावकी उपासना करना ऐसे इस प्रायोजनिक कल्याण साध सकनेमें ही उनका समय व्यतीत होता है, ऐसा जिसका व्यवहार शुद्धमार्गमें स्थिर परिणाम है वह ही पुरुष निश्चयप्रतिक्रमणका पात्र होता है अर्थात् आत्मामें कोई दोष न रह सके, गुणविकास हुआ करे, शुद्ध आनन्दका अनुभव रहे, विकारोंका स्वाद न रहे, किन्तु परमार्थज्ञान सुधारस ही स्वादमें रहे ऐसा उपाय ऐसे संत कर सकते हैं।

परात्मतत्त्वकी स्थिरतामें निश्चयप्रतिक्रमण— परमार्थज्ञाता संत इस उपासनाके अभ्याससे व्यवहार सन्मार्गकी प्रवृत्तियोंके प्रसादसे निज कारणपरमात्मतत्त्वमें स्थिर भाव किया करते हैं। नीरंग, निस्तरंग शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र निःशंक आत्मतत्त्वमें उनका उपयोग स्थिर हो जाता है। वह ही तो साक्षात् निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप है। यह परमात्मतत्त्व जो अपनी उद्दण्डता समाप्त करनेसे स्वयंमें दर्शन दिया करता है यह कारणसमयसार सहजज्ञान सहजदर्शन सहजचारित्र सहजश्रद्धान सहजस्वभावसे अलंकृत है, यह किसी भी तरंग द्वारा दृष्ट नहीं होता है, किन्तु निस्तरंग

रूप तरंगमें यह अपनी झलक देता है।

ज्ञानीकी अध्यात्ममार्गमें प्रतिक्षण- प्रगति— यह स्वभाव, यह परमात्मतत्त्व, यह समयसार यह आत्मा जो पदार्थ है और जितने पदार्थ होते हैं वे सब सामान्यविशेषात्मक होते हैं। इस परमात्मपदार्थका यह सामान्यविशेषात्मक तत्त्व सहज चैतन्यस्वभावमें विराज रहा है। कैसा आत्म वैभव है यह ? जाननहार ही जान सकता है। इसकी जो लोग उपासना रखते हैं उनके यह स्वभावका दर्शन पुष्ट होता है। जैसे पहलवान लोग रोज दंड बैठक व्यायाम किया करते हैं। उन्हें कभी यह आलस्य नहीं आता कि ऐसी ही दंड बैठक तो कल किया था, कोई नई चीज आज नहीं करना है, सो दंड बैठक करके क्या करना है, ऐसा आलस्य उनके नहीं आता है। उन्हें तो उत्सुकता होती है। वे तो जानते हैं कि रोज रोज दंड बैठक करने से स्वास्थ्य बढ़ता है, शक्ति बढ़ती है, ऐसे ही अध्यात्म सुभट एक बार जान गया वह आत्माका मर्म, आत्मचित्प्रकाश। तो अब उसका यह जानना उसकी ओर रुचि बढ़ाता है। इसही शुद्ध ज्ञानप्रकाशकी उपासनामें, अवलोकनमें, यत्नमें और उत्सुकता बढ़ाता है। इसे अभी मिलनेको बहुत कुछ पड़ा है। हो गया यह ज्ञानी, जान गया आध्यात्मिक रहस्य, लेकिन अभी पानेकी बात बहुत पड़ी हुई है। कर्मोंका क्षय अभी बहुत होना है, यह अभी यहां नहीं कह रहे, वह तो आनुसंगिक परपदार्थमें होने वाला कार्य है, पर इस अध्यात्मयोगीको अध्यात्ममें ही बहुतसा लाभ पानेको पड़ा हुआ है। वह निरुत्साह नहीं होता है अध्यात्ममार्गमें प्रगति करने के लिए।

निष्पक्ष तत्त्वकी ओर आकर्षण— यह ज्ञानीपुरुष सामान्य विशेषात्मक निज परमात्मद्रव्यमें उपयोग द्वारा स्थिर परिणाम करता है। यही हुआ शुद्धचारित्र। जो अपने आपको शुद्ध चारित्रमय करता है वही मुनि तो निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप है। जैसे लोकमें देखा होगा कोई पुरुष जब तक किसी का पक्ष कर रहा है तब तक उसकी ओर आकर्षण नहीं होता। भले ही कुछ लोग जिनको इस पक्षमें रौद्रध्यान बना है वे गुण गायें, किन्तु वे तो स्वय पतित हैं, मोही हैं, मायामूर्ति हैं उनके द्वारा गुणगान किये जानेसे कौनसा लाभ हुआ ? वह भी एक अंधेरा है। जब वह पुरुष पक्षपातसे रहित न्यायवृत्ति वाला होता है तो चूँकि वह न्यायमूर्ति बना है इस कारण सबका उस ओर आकर्षण होता है। भले ही स्वार्थमयी दुनिया में स्वार्थ सिद्ध न होने से उसका व्यवहारिक आकर्षण न हो किसीका, लेकिन जानते सब हैं उसकी महिमाको, उसके गुणोंको। अन्तरमें नियमसे

वह सहज परमप्रकाश मेरेमें सर्व ओरसे स्थित हो।

सर्वसमृद्धिके अधिकारी— जो पुरुष इन्द्रियके विषयोंके सुखसे विरक्त हैं, जिनका अनुराग स्वतःसिद्ध सहजसिद्ध एक चित्प्रकाशस्वरूप प्रीति रखनेमें ही बना रहता है। यदि कुछ करे बाहर तो जिसकी वृत्ति तप स्वाध्यायकी ही हुआ करती है। ज्ञानकी मस्तीसे जो सदा प्रसन्न रहा करते है, शुद्ध आशय हो जानेके कारण जिनके गुणोंका विशुद्ध विकास हुआ करता है जिन्हें कोई संकल्प विकल्प उपद्रुत नहीं करते हैं ऐसे पुरुष सर्व समृद्धिके अधिकारी क्यों न होंगे? यह है निश्चयप्रतिक्रमणका साक्षात् स्वरूप।

गुणातिशयलब्धि— निश्चयप्रतिक्रमणमें दोषोंके दूर होने से गुणों का अतिशय प्रकट हुआ है। यह गन्ना ही तो योग्य विधिसे मिश्री बन जाया करता है। उसका रस निकलने पर मिश्रीका स्वाद प्रकट नहीं है। क्यों नहीं प्रकट है कि उसमें दोषोंका निवास है। रसके उन दोषोंकी शुद्धि के लिए गरम कड़ाहीमें आंचा जाता है, संतप्त किया जाता है, तापसे तपाया जाता है तब उस रसके बहुतसे दोष भापके रूपमें झड़ने लगते हैं, बहुतसे दोष मिठाईके दोष निकल जानेसे अब वह गुड़का रूप रखने लगता है। अब उसही गुड़को रावको और विधियोंसे निर्दोष किया जाता है तब वह शक्करका रूप रख लेता है। शक्करका सीरा करके उसके बहुत से दोष तब और निकल जाते हैं—दोष निकलने के साधन जैसे दूध है, अथवा चूनाका पानी है ऐसे दूधको उस सीरेमें डालकर उसके अवगुणों को फाड़कर बाहर कर देते हैं तब वह चीज बनकर मिश्री बन जाती है। दोषोंके दूर होनेसे जैसे इस मिश्रीमें ऐसा गुण प्रकट हुआ है, यों ही जानो कि आत्मामें बसे हुए दोषोंके दूर किए जानेसे ही आत्माका गुणविकास होता है। पूर्ण अतिशयवान् हो जाता है यह।

परमार्थप्रतिक्रमणका प्रसाद— केवलज्ञानी कोई हुआ है तो बाल बच्चे घर गृहस्थीमें मिल करके हुआ है क्या? उसे तो इस सारे रागद्वेष मोहको सर्वथा दूर करनेके उपायसे ही परमोत्कृष्ट, परमाराध्य सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त हुई है। यह सब परमार्थप्रतिक्रमणका परम प्रसाद है। ऐसे इस निश्चयप्रतिक्रमणके स्वरूपमें यहां यह कहा गया है कि जो पुरुष उन्मार्गको छोड़कर जैनमार्गमें स्थिर भावको प्राप्त होते है, जिस मार्गसे चलकर प्रभु जिनेन्द्र हुए हैं उस मार्गमें ही जो अपना यत्न रखते हैं, साक्षात् प्रतिक्रमण स्वरूप वे संत शाश्वत परमशान्ति प्राप्त करते हैं। ऐसे परमार्थप्रतिक्रमणकी उपासना भावना और प्रयोग करना हम लोगोंका

सबका आकर्षण उस न्यायमूर्ति पुरुषकी ओर होता है। ऐसे ही जब तक कोई साधु अपनी छिपो बाह्यप्रवृत्तिमें, बाह्यदृष्टिमें धरना, उठाना, चलना आदिक क्रियावोंमें ही दृष्टि रखता है, पक्ष रखता है तब तक उसकी ओर सम्यग्दृष्टिका आकर्षण नहीं होता है। विवेकी पुरुष साधुवोंकी चामको नहीं पूजते हैं, साधुवोंकी बाहरी क्रियावोंको नहीं पूजते हैं किन्तु इस आत्माने कितनी विषयकषायोंसे पृथक्दृष्टि रखी है? केवल एक ज्ञानप्रकाशके अवलोकनमें ही रत रहा करता है यह। उनके लिए दुनियाके लोग न कुछ हैं और अपने लिए वे सब कुछ हैं। इस प्रकार निरखनेसे ज्ञानियोंका आकर्षण होता है।

निश्चयचारित्रमें निश्चयप्रतिक्रमण-- अन्तस्तत्त्वके साधक साधु निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप हैं क्योंकि वे तपस्वी साधु निश्चयप्रतिक्रमणरूप परमात्त्वको प्राप्त हुए हैं। सो गुणविकासके रूपमें महंत पुरुषोंके द्वारा वे आराधित होते हैं। जिस चारित्रमें उत्सर्ग और अपवाद दोनों मार्ग रहते हुए भी उत्सर्गमार्गकी जहां उपासना बनी रहती है ऐसा यह निश्चय चारित्र परमार्थचारित्र मोक्षमार्ग ज्ञानी संतोंके द्वारा उपासनीय है। ज्ञानी पुरुष इन समस्त बाह्य पदार्थोंसे यहां तक कि व्यवहारधर्मकी क्रियासे भी निवृत्ति पाकर अन्तरमें एक विशुद्ध चित्प्रकाशका अवलोकन करता है, जिस प्रकाशके अवलोकन से ये साधु संत उत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। शुद्धप्रकाश दृष्टिमें रहा करे, ऐसी भावना ज्ञानी पुरुषोंके बनी रहती है।

उत्कृष्ट तत्त्वका निर्णय-- हे मनुष्यभवसे अनुपम लाभ उठाने वाले संत पुरुषों! तुम्हें क्या चाहिए? सर्वोत्कृष्ट बातका तो निर्णय करलो, जिससे आगे और कुछ भी उत्कृष्ट न हो, ऐसी बात तो सोच लो तुम्हें क्या चाहिए? ये ईंट पत्थर, मकान ये क्या तेरी दृष्टिमें होने वाली उत्कृष्ट चीजें हैं? क्या है उनमें जड़, भिन्न, असार हैं, तेरेसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है जिनका, तू अपने स्वरूपमय है. तू अपने चैतन्यस्वभाव की वृत्तिमें तन्मय है, वह तुमसे अत्यन्त विमुख है, वही तेरे लिए उत्कृष्ट पदार्थ है। ये धन वैभव सम्पदा क्या हैं? एक मोहकी नींदका स्वप्नमात्र हैं। तेरे ज्ञानतत्त्वसे इसका क्या सम्बन्ध है? ये परिजन, वैभव, कुटुम्बजन ये क्या तेरे लिए उत्कृष्ट हैं, तेरे लिए देवता है क्या? भगवान हैं क्या, ये तुम्हारी मदद कर सकेंगे क्या? इनका लोग क्यों आकर्षण करते हैं? सर्वोत्कृष्ट तत्त्वका निर्णय तो करो, वह सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है अपने आप का सहजचित्स्वरूप, जो बाह्य वृत्तियोंके विकल्प तोड़ देनेसे दृष्टिमें आता

वह सहज परमप्रकाश मेरेमें सर्व ओरसे स्थित हो।

सर्वसमृद्धिके अधिकारी— जो पुरुष इन्द्रियके विषयोंके सुखसे विरक्त हैं, जिनका अनुराग स्वतःसिद्ध सहजसिद्ध एक चित्प्रकाशस्वरूप प्रीति रखनेमें ही बना रहता है। यदि कुछ करे बाहर तो जिसकी वृत्ति तप स्वाध्यायकी ही हुआ करती है। ज्ञानकी मस्तीसे जो सदा प्रसन्न रहा करते हैं, शुद्ध आशय हो जानेके कारण जिनके गुणोंका विशुद्ध विकास हुआ करता है जिन्हें कोई संकल्प विकल्प उपद्रुत नहीं करते हैं ऐसे पुरुष सर्व समृद्धिके अधिकारी क्यों न होंगे? यह है निश्चयप्रतिक्रमणका साक्षात् स्वरूप।

गुणातिशयलब्धि— निश्चयप्रतिक्रमणमें दोषोंके दूर होने से गुणों का अतिशय प्रकट हुआ है। यह गन्ना ही तो योग्य विधिसे मिश्री बन जाया करता है। उसका रस निकलने पर मिश्रीका स्वाद प्रकट नहीं है। क्यों नहीं प्रकट है कि उसमें दोषोंका निवास है। रसके उन दोषोंकी शुद्धि के लिए गरम कड़ाहीमें आंचा जाता है, संतप्त किया जाता है, तापसे तपाया जाता है तब उस रसके बहुतसे दोष भापके रूपमें झड़ने लगते हैं, बहुतसे दोष मिठाईके दोष निकल जानेसे अब वह गुड़का रूप रखने लगता है। अब उसही गुड़को राबको और विधियोंसे निर्दोष किया जाता है तब वह शक्करका रूप रख लेता है। शक्करका सीरा करके उसके बहुत से दोष जब और निकल जाते हैं—दोष निकलने के साधन जैसे दूध है, अथवा चूनाका पानी है ऐसे दूधको उस सीरेमें डालकर उसके अवगुणों को फाड़कर बाहर कर देते हैं तब वह चीज बनकर मिश्री बन जाती है। दोषोंके दूर होनेसे जैसे इस मिश्रीमें ऐसा गुण प्रकट हुआ है, यों ही जानो कि आत्मामें बसे हुए दोषोंके दूर किए जानेसे ही आत्माका गुणविकास होता है। पूर्ण अतिशयवान् हो जाता है यह।

परमार्थप्रतिक्रमणका प्रसाद— केवलज्ञानी कोई हुआ है तो बाल बच्चे घर गृहस्थीमें मिल करके हुआ है क्या? उसे तो इस सारे रागद्वेष मोहको सर्वथा दूर करनेके उपायसे ही परमोत्कृष्ट, परमाराध्य सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त हुई है। यह सब परमार्थप्रतिक्रमणका परम प्रसाद है। ऐसे इस निश्चयप्रतिक्रमणके स्वरूपमें यहां यह कहा गया है कि जो पुरुष उन्मार्गको छोड़कर जैनमार्गमें स्थिर भावको प्राप्त होते हैं, जिस मार्गसे चलकर प्रभु जिनेन्द्र हुए हैं उस मार्गमें ही जो अपना यत्न रखते हैं, *साक्षात् प्रतिक्रमण स्वरूप वे संत शाश्वत परमशान्ति प्राप्त करते हैं।* ऐसे परमार्थप्रतिक्रमणकी उपासना भावना और प्रयोग करना हम लोगोंका

लक्ष्य होना चाहिये और इसका यत्न होना चाहिए।

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८७॥

निःशल्यतामें ही परमार्थप्रतिक्रमण— जो साधु शल्यभावको छोड़ कर निःशल्यभावमें प्रवृत्त होता है वह साधु प्रतिक्रमण कहलाता है, क्यों कि उस कालमें वह प्रतिक्रमणभावमय है। प्रतिक्रमणका अर्थ है लांघ जाना। जो गड्ढा है, दोष है, कुपथ है, अहितकी चीज है उसको लांघ जाना, उससे दूर हट जाना। किसी भी वस्तुके लांघनेमें दो किनारे होते हैं, बीचमें वस्तु है, यहां भी बहुत दोष किए थे। सो वह दोषी किनारा पहिलेका भाव था अब उस भावसे हटकर सब दोषोंको लांघ रहा है और निर्दोष तटपर पहुंच रहा है। ऐसा प्रतिक्रमण, जो अतीत दोषोंको दूर करदे तथा निर्दोष निज परमार्थ स्वभावमें ठहरा दे वह प्रतिक्रमण ऐसे ही संत पुरुषके होता है जो शल्य भावको छोड़कर निःशल्य स्वरूपमें पहुंचता है।

तीन शल्य— शल्यभाव अनेक होते हैं। जिनको संक्षेपमें विचारो तो तीन हैं—माया, मिथ्या और निदान। मायामें छल कपटका परिणाम आता है। चित्तमें कुछ और है ? वचनमें कुछ और कहा जा रहा है, यह शल्य परिणाम है। मायाचार रखने वाले पुरुष रात दिन चिंता, शोक, भय, शंकामें पड़े रहते हैं। जिनका चित्त मायाचारसे वासित है उनमें धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता है।

माया शल्यके परिहारमें प्रतिक्रमण— भैया ! अपने जीवनमें सरलता का गुण लायें उससे लाभ है। मायाचार किया जाता है किसी परवस्तुके लाभके लिए या अपने किसी बड़प्पनके लिए। सो कौनसा पदार्थ ऐसा है जो इस जीवका हित करने वाला हो ? मरने पर तो कुछ साथ जायेगा नहीं, यह तो निश्चित ही है, किन्तु जीवन कालमें भी किसी भी परपदार्थसे अपनेको लाभ नहीं है। लाभ तो शांतिका नाम है। जहां शांति और संतोष रहे वह है लाभका पद। किन्तु परिग्रहकी दृष्टिमें परिग्रहके आकर्षणमें इस जीवको चिंताएँ ही बढ़ती हैं। जहां अशांति हो वह क्या लाभ है। और मान लो कल्पित मौजका भी लाभ है तो आंखें मिचीं मृत्यु हुई, बियोग हुआ कि सब खत्म। इससे मायाचारका परिणाम रखना बिलकुल व्यर्थ है। जैसा हृदय हो तैसा वचन हो। लोगोंने तो बिना ही प्रयोजन आदत सी बना ली है मनकी बात नहीं कहनेकी, सीधी ही बात हेर फेर कर कहा करते हैं लोग, कुछ रौद्र ध्यान जैसा उन्हें मौजसा आता

है। मायाचारसे वासित हृदयमें शांति, धर्म, संतोष, ज्ञान इनका प्रवेश नहीं होता है। इसलिए जो माया शल्यको त्यागकर निशल्यभावमें स्थिर होता है उसके ही परमार्थप्रतिक्रमण हो सकता है अर्थात् धर्मकी गति हो सकती है।

मिथ्याशल्यके परिहारमें प्रतिक्रमण— जो मिथ्याभाव करके सहित है वह तो साक्षात् अज्ञानी ही है। परवस्तुको अपनी समझना, श्रद्धामें ऐसा रखना कि अमुक जीव, अमुक पदार्थ, अमुक सम्पदा ये सब कुछ मेरे ही तो हैं, अपने आपका ऐसा विश्वास रखना, मिथ्याश्रद्धान रखना यही अज्ञानकी जड़ है। मिथ्या आशय वाले हृदयमें शांतिका प्रवेश नहीं है। हम मान रहे हैं परपदार्थको अपना और वह परपदार्थ अपना समय पाकर आयेगा जायेगा, परिणमेगा, यहां मान लिया अपना, सो अपनी इच्छाके माफिक परिणमें तब तो मौज मानेगा। इच्छा तो इसकी यह है कि सम्पदा मेरे पास सदा रहे, इच्छा तो यह है कि यह मेरा देह सदा बना रहे, इस लोकमें मैं बड़ा प्रतिष्ठित होऊँ, सर्वप्रमुख बनूँ, परन्तु किसी परपदार्थके परिणमन पर अपना अधिकार क्या है? विरुद्ध परिणमन देखते हैं तो दुःखी हो जाते हैं। यह क्लेश मिथ्या आशयके कारण ही तो है। कैसी भी कठिन परिस्थिति आए, मान लो बहुतसा धन बरबाद हो रहा है, अथवा घरके कुछ लोगोंका वियोग हो रहा है कुछ भी कठिन स्थिति आए, जो सावधान रहेगा, अपनेको सबसे न्यारा ज्ञानमात्र अपने स्वरूपास्तित्त्वमात्र आकिञ्चन्यमय देखेगा उसको आकुलता नहीं आ सकती है। दूसरे लोग कैसे सहाय हो सकते हैं? मिथ्याआशय छूटे तो इसे शांतिका रास्ता मिले। मिथ्याआशयसे कभी भी शांति नहीं आ सकती। जो मिथ्याशल्यका त्याग करे, और निःशल्य भावमें परिणमे उसकी ही धर्ममें प्रगति है, परमार्थप्रतिक्रमण है।

निदान शल्यमें संताप— एक शल्य है निदान। प्रायः लोग इस निदान शल्यमें अन्य शल्योंकी भांति निरन्तर रहा करते हैं। विषयभोगों की चाह करना, धर्मधारण करके इन्द्रादिक पदवियोंकी चाह करना, धन सम्पदा बढ़ाना आदिक किसी प्रकारकी चाह बनाये रहना यह तो शल्य ही है ना, क्योंकि आत्माका स्वरूप तो निष्काम है, कामनारहित है, उस स्वरूपके विरुद्ध जहां कामना की, इच्छा बढ़ायी, विषयोंमें रुचि की तो ऐसा कदम ही आकुलतामय है।

सुरक्षित क्षेत्रके अपरित्यागकी भावना— जैसे कभी सावनके महीनेमें घोर वर्षा हो रही हो, बिजली भी कड़क रही हो, कहीं कहीं

बिजली भी गिरती हो ऐसे समयमें कोई पुरुष अच्छे कमरेमें बैठा हो तो जब वह कमरेमें है तब वह सुरक्षित है, कमरे से बाहर गया तो अब उसकी रक्षा खतरेमें है, विपदामें है। ऐसे समयमें एक सुरक्षित कमरे में बैठा हुआ पुरुष कभी यह चाह नहीं करता कि मैं बाहरमें दौड़ूँ, खेलूँ, कूदूं, ऐसे ही इस जगत्में घनघोर विपत्तियोंकी वर्षा है, लाखोंके प्रतिकूल परिणमनोंकी बिजली कड़कती है, अहां कल्पनावोंके कारण नाना क्षोभ बन जाते हैं ऐसे समयमें कोई पुरुष सुभवितव्यवश इन सब संकटोंसे रहित ज्ञानप्रकाशमात्र आत्माके दृढ़ किलेमें बैठा हो और वहां जिसने अपना सहज सुगम सत्य आनन्द पाया हो वह पुरुष यह नहीं चाहेगा कि मैं बाहर घूमूँ। अपने आत्मस्वरूपसे बाहर कभी दृष्टि लगाऊँ।

निदानरहित भावमें प्रतिक्रमण-- बाहर कहीं दृष्टि लगाना, किन्हीं वस्तुवोंकी चाह करना यही तो निदान है। निदानग्रस्त पुरुष निश्चयप्रतिक्रमणका अधिकारी नहीं है। निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप वही तपस्वी है जो निशल्य भावमें रह रहा है, परम विश्रामरूप ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति जिसे प्राप्त हुई है ऐसा महान् तपस्वी पुरुष ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप है।

आत्मविकास-- निश्चयसे देखा जाय तो हम आप सब आत्मावों में यह निशल्यस्वरूप परमात्मा शाश्वत विराजमान है। मोक्ष होने पर कोई नई चीज नहीं मिल जाती है। नई चीजका मिलना तो क्लेशका ही कारण है। दूसरी चीजका सम्बन्ध तो क्लेश ही पैदा करता है। मुक्त जीवोंको कहीं दूसरी चीज नहीं मिल जाती है या कुछ वह अपना स्वरूप तज कर दूसरा नहीं बन जाता है। मुक्तिमें वही स्वरूप है, बल्कि यहां बहुतसी चीजें जो मिली हुई हैं उनको और खो देना पड़ता है। तो जो मिले हैं, जिनसे हम बड़े बन रहे हैं बोझल भारी, संसारसमुद्रमें डूब रहे हैं उन सब परवस्तुवोंको, कलंकोंको, परभावोंको और मिटाना है। मुक्त अवस्था तो आत्मस्वरूपकी शुद्ध हालत है। केवल आत्मतत्त्व जैसा है स्वतःसिद्ध अपने स्वरूपके कारण बस वह प्रकट हुआ है इसीके मायने हैं मुक्त अवस्था। मोक्षमें कहीं और कुछ नई बात नहीं आती। जो है वही यथार्थरूपमें प्रकट हो गया, इसीका नाम निर्वाण है। आत्मतत्त्व तो विशुद्ध कारणसमयसार स्वयं ही है।

व्यवहारदृष्टिमें शल्यव्यञ्जना-- अब जरा अपने स्वरूपमात्रकी दृष्टि न रखकर कुछ अगल-बगल झांकियेगा तो यह हो गयी व्यवहारकी दृष्टि। अब व्यवहारकी दृष्टिमें निरखते हैं तो यह तो बड़ा दंदफंदी है, कर्ममल कलंकोंसे बसा हुआ है, शरीरसे घिरा हुआ है। रागादिक

विभावोंसे मलीमस्त हो रहा है, इसही दृष्टिमें देख लीजिए ये तीन शल्य उद्दण्डता मचा रही है--माया, मिथ्या और निदान। तो ये शल्य व्यवहार दृष्टिमें हैं, परके सम्बन्धसे हैं इस कारण औपचारिक हैं; वास्तविक नहीं हैं।

प्रतिक्रमणकी स्वरूपगतता-- तीनों शल्योंको छोड़ करके जो परम निःशल्यस्वरूप, केवलज्ञान प्रकाशमात्र, शरीरका भी जहां अवलोकन नहीं है, ऐसे शुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्वमें जो योगी ठहरता है वह योगी ही निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप है क्योंकि उस योगीके ही वास्तविक प्रतिक्रमण होता है। यह प्रतिक्रमण कहीं परवस्तुसे नहीं लाना है, किन्तु अपने स्वरूपमें अपनी ही स्वभावपरिणतिसे प्रकट होता है। जैसे व्यवहारके दण्डका सम्बन्ध परवस्तुसे भी होता है जैसे आचार्यने साधुको दण्ड दिया कि तुम गरमीमें बालूकी रेत पर दो घंटे ध्यान लगावो। हुआ न परका सम्बन्ध? नदीके किनारे ध्यान लगावो, हुआ न इसमें परका सम्बन्ध? अच्छा, उपवास कर लो इसमें भी हुआ न परका सम्बन्ध? इसमें क्या हुआ? अरे आहार ही तो छोड़ा, परका सम्बन्ध कैसे हुआ? अरे मैं आहार छोड़ूँ, उपवास करूँ, इस प्रकारकी कल्पनाका होना परका सम्बन्ध ही तो है। इस निश्चयप्रतिक्रमणमें न परवस्तुका सम्बन्ध है, न कल्पनाका सम्बन्ध है किन्तु केवल परमार्थ आत्मस्वरूप ही दृष्ट हो रहा है। यह है उन दोषोंको निराकृत करनेके लिए परमार्थ दण्ड, परमार्थप्रतिक्रमण।

परमार्थके अपरिचयमें परमार्थतपश्चरणकी दुर्गमता— जैसे मोही पुरुषोंको भोगोंका भोगना, भोगोंके साधन मिलाना बड़ा आसान लग रहा है और त्याग करना भोग छोड़ना यह कठिन मालूम होता है, इसी प्रकार अज्ञानी किन्तु बड़े व्रत तपस्यामें रहने वाले बाह्यत्यागीजन जिन्हें आत्माके स्वतःसिद्ध स्वरूपका परिचय तो मिला नहीं है लेकिन धर्मकी एक धुन छायी है, सो ईमानदारी व्रत कर रहे हैं तपस्या कर रहे हैं, ऐसे इन पुरुषोंको ये अनशन आदिक बड़ी ऊँची तपस्याएँ रेतोंमें तपना, जाड़ेमें नदीके किनारे तप करना और और भी बड़े-बड़े संकट झेलना ये व्रत तपस्याएँ उन्हें सरल मालूम होती हैं, इनको वे उत्साहसे आसानीसे कर लेते हैं, किन्तु एक यथार्थस्वरूपदृष्टिरूप निश्चयप्रतिक्रमण उन्हें कठिन लगता है। इसी कारण इस परमार्थस्वरूपके ज्ञाता रहने को परम तपश्चरण बताया गया है।

शुद्धात्मभावनाके अर्थ अनुरोध-- जो साधु इस शल्यभावको तज कर परमार्थ निःशल्य भावमें परिणत होता है उसके ही वास्तविक निश्चय-

प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण स्वरूपगत है, परके अवलोकनसे रहित है, अपने स्वरूपमें अपने स्वरूपके दर्शनसे प्रकट होता है। ऐसा परमार्थ प्रतिक्रमण जिन साधुवोंके विकसित होता है, वे संसारके समस्त संकटोंको तजकर निःसंकट अनन्त आनन्दमय परमनिर्वाणको प्राप्त होते हैं। विवेकी पुरुष वही है जो इन तीनों शल्योंको छोड़कर निशल्य जो निज परमात्मस्वरूप है, अपने आप अपनी सत्ताके कारण जो प्रकाशमात्र है उस स्वरूप में ही जो अपनेको देखता है और इस ही प्रकार उस विकाररूप परिणमता है वही तो विवेकी है। विवेकी पुरुष उन तीनों शल्योंको छोड़कर निशल्य परमात्मस्वरूपमें ठहरे और सदा अपने आपके शुद्ध आत्माके रूपमें भावना करे।

भावनानुसार लाभ— भैया! सब सुख भावनासे मिलेगा। चिंताकी बात नहीं है। दुविधामें मत पड़ो। कैसे कल्याण होगा? इसकी आशंकामें न आइए। भगवान जिनेन्द्रदेव इस ही मार्गसेसंसार संकटसे तिरे हुए हैं जिस मार्गको यहां परमार्थप्रतिक्रमणके प्रसंगमें कहा जा रहा है। एक शुद्ध आत्माकी भावना बनावो। कौनसा कष्ट है शुद्ध आत्मामे? जैसे लोग अपनेको ऐसा ध्यानमें बनाये रहते है कि मै अमुक मल हूं, अमुक चंद हूं, अमुक प्रसाद हूं, ऐसे ही बहुतसे लोग ऐसी भावना बनाये हैं कि मैं इतने बच्चों वाला हूं, मैं स्त्री वाला हूं, मै इतनी जायदाद वाला हूं, जैसे यह भावना बनाये हैं ना तो वहां भी भावना ही तो बनाथी। मैं पुष्ट हूं, गोरा हूं, सांवला हूं, लम्बा हूं, ठिगना हूं, भावना ही तो बना रहा है यह जीव। मैं बड़ा चतुर हूं। इन सब लोगोंमें मै बड़ी अपनी बुद्धि कलाका प्रदर्शन करने वाला हूं, ऐसी ही कुछ भावना ही तो यह बनाता है। अरे ये सब भावनाएँ संसार वृद्धिकी ही कारण हैं। बजाय इन भावनावोंके यह भावना करो कि मैं शरीरसे भी विविक्त अकिञ्चन समस्त परपदार्थोंके सम्बन्धसे रहित केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूं।

शुद्धात्मभावनाका उत्साह— भैया! अपना स्वरूप सोचनेमें कुछ तकलीफ हो रही है क्या? हां उनको तकलीफ हो रही होगी जिनका उपयोग मोहमें दूपित है, हृदयमें तो वही मोहका उपयोग पड़ा हुआ है, वही विष भरा हुआ है, ऐसी अपवित्र भूमिमें इस पावन भावनाका प्रवेश कहां हो सकता है? हां जरा अपने आप पर करुणा करो और एक ही झटकेमें उन समस्त विभावोंको झटक दो। एक दो सेकेण्ड सर्व परको भूल कर केवल अपनी सही बुद्धिमें आइए तो कौनसा बिगड़ हो जाता है? अरे बाहरमें कोई साथी न होगा, कोई शरण नहीं है। कोई शरण हो ही

नहीं सकता। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि मैं केवल अपने आपमें ही कुछ अपना कर सकता हूं। दूसरे वे अपने आपमें ही अपना कुछ कर सकते हैं। कहां आशा रखते हो, किसकी ममता रखते हो, क्यों उपयोग में बैठाए हो कि यही मेरा सर्वस्व है? तू इस देहसे भी न्यारा है, देह भी तेरा नहीं है। तब ऐसी विशुद्ध ज्ञानमात्र रूप अपनी भावना तो बनावो। इस भावनासे ही संसार संकटोंसे पार हो सकते हो।

सुगम स्वाधीन सहज स्वसाधना— भैया! नहीं हो सकता है बड़ा ऊँचा तपश्चरणका काम, नहीं कर सकते हो बड़ी धूप ठंड भूख प्यासका सामना तो न करिये, किन्तु जो केवल भावनाके ही द्वारा साध्य है ऐसे इस निज सहजस्वरूपका दर्शन न भी किया जाय तो यह तो खेदकी बात है। इस नरजीवनकी सफलता पाना है तो इन सब माया मूर्तियोंकी दृष्टि को त्यागो। अपने आपको शुद्ध आत्माके रूपमें भावो। इस भावनाके प्रसादसे शल्योंको तजकर निःशल्य स्वरूपमें आकर अपनेको कार्य परमात्माके रूपमें प्रवृत्त कर सकते हैं। जो इन तीनों शल्योंको तजकर निःशल्य परमात्मस्वरूपमें स्थित होकर अपने आपको शुद्ध ज्ञानप्रकाश मात्र रूपमें ही भाता है वह नियमसे सारे दुःखोंसे दूर होकर विश्वमें सब का ज्ञाताद्रष्टा रहकर अनन्त आनन्दमय होगा।

शल्यभावको छोड़कर निःशल्यभावमें आनेका अनुरोध— माया, मिथ्या और निदान—इन तीन शल्योंकी दाहसे यह मोहीजगत जला जा रहा है। यथार्थस्वरूपका परिचय न होने से यह शांतिकी ओर जा ही नहीं पाता। हे कल्याणार्थी पुरुष! ऐसे चित्तको तू शांत कर, अर्थात् इस चित्तको परमार्थस्वरूप आत्मतत्त्वकी ओर ले जाइये, जिस उपयोगमें रहकर फिर यह चित्त निश्चेष्ट हो जायेगा, शांत निश्चेष्ट भावमें स्थित। जैसे समुद्रमें तरंगें उठ रही हैं तो उस समुद्रको अशांत कहते हैं। तरंगें न रहें, निश्चेष्ट हो जाय तो उसे शांत कहते हैं। यह चित्त परमार्थस्वरूप ज्ञानानन्दमात्र अंतस्तत्त्वमें जाय तो उस उपयोगमें ये विकल्प सब शांत हो जाते हैं। अशांतमय चित्त, विकल्पमय उपयोग संसारभ्रमण का ही कारण है। जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह इन छहों शत्रुओंसे आक्रांत है, जो कषायके तरंगोंसे रंगा हुआ है, जिसमें शुद्ध सहज स्वच्छ स्वभावका दर्शन नहीं हो पाता है ऐसे चित्तको शांत कर, ऐसे विकल्पभाव को तू छोड़ दे और स्वभाव नियत, अपने आपके स्वरूपके कारण जो शाश्वत अंतःप्रकाशमान् है ऐसे कारणसमयसारकी ओर अपना उपयोग दे।

चत्ता ऽगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिक्कमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

सुगुप्त आत्माके परमार्थप्रतिक्रमण— जो साधु अगुप्ति भावको त्याग करके तीनों गुप्तियोंसे सुरक्षित है वह साधु प्रतिक्रमण कहा जाता है क्योंकि उस समय उसका भाव अभेदप्रतिक्रमणमय हो रहा है। गुप्तका अर्थ लोकमें छुपाना प्रसिद्ध है, इस बातको गुप्त रक्खो, यह रहस्य गुप्त है ऐसा कहने पर लोग गुप्तका अर्थ छुपाना करते हैं, किन्तु गुप्तका अर्थ छुपाना नहीं है, इसमें गुप् धातु है जिसका अर्थ है रक्षण, गुप् रक्षणे। इस बातको गुप्त रखना, इसका अर्थ है इस बातको सुरक्षित रखना। कहीं यहां वहां फैलकर बात छिन्न भिन्न न हो जाय, ज्यों का त्यों हृदयमें सुरक्षित बना रहे यह अर्थ है गुप्तका। अपने आत्माको गुप्त करो अर्थात् सुरक्षित करो। अगुप्त भावका परिहार करो—अरक्षित तत्त्वका त्याग करो। यह आत्मा मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्डके कारण अरक्षित है, क्योंकि आत्मा विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है उसका विकास इन दण्डोंके कारण नहीं हो पाता।

मनोदण्डसे आत्माकी असुरक्षितता— इन संकल्प विकल्पने इस ज्ञानानन्दस्वरूपका घात किया है। अब यह आत्मतत्त्व स्वभावके अनुकूल न विकसित हो सका। बड़े-बड़े पुरुषोंको, देवी देवतावोंको, भोगभूमियाके सुखी जीवोंको मनका ही तो क्लेश बढ़ा हुआ है। जो लखपति, करोड़पति वैभवशाली हैं, राजा महाराजा हैं उन्हें क्या तकलीफ है ? न भोजनकी तकलीफ, न ठंड गरमीका कष्ट, किन्तु मनके विकल्प दौड़ते रहते हैं कि मैं इन सबका सिरताज कहलाऊँ। और जैसी कल्पना करते तैसा होता नहीं है तब दुःख मानता है और हो जाय तो खुशीके मारे विह्वल हो जाता है। लोग सोचते हैं कि मैं दुनियामें सिरताज कहलाऊँ, इसका अर्थ है कि मैं मूढ़ोंमें प्रमुख कहलाऊँ, मूढ़ोंका राजा कहलाऊँ। भाव उसमें यह है कि उसने अपनेमें मलिनता ही बनायी, अपने को अपवित्र ही बनाया। मनके संकल्प विकल्पसे तो यह आत्मा अरक्षित हो जाता है। अगुप्त हो गया अब।

वचनदण्ड व कायदण्डसे आत्माकी अरक्षितता— वचनोंके अनाप सनाप बोलते रहनेसे भीतरी वजन कम हो जाता है। भीतरमें जो धीरता का भाव बना हुआ था, जो गम्भीरता बनी हुई थी, आत्म विश्रामकी ओर जानेकी पात्रता हुई थी वह अधिक बोलनेके कारण नष्ट हो जाती है। यह आत्मा जब अगुप्त हो जाता है अथवा खोटे वचन निकल जाते हैं तो

खूब दण्ड मिलता है, खूब ठुकाई पिटाई हो जाती है। जेलमें बंद होना
पड़ता है या यह भी न हुआ तो पड़ोसियोंकी निगाहसे गिर जाना पड़ता
है। इस वचनदण्डसे भी आत्मा अरक्षित है, कायकी प्रवृत्तिसे भी आत्मा
की अरक्षा है।

त्रिगुप्तके परमार्थप्रतिक्रमण— मन, वचन, कायकी क्रियावोंका
रिहार हो जाय और यह अपने आपके विशुद्ध ज्ञानस्वरूपमें उपयोगी
ा करे, यह रक्षा है। यह वास्तविक आत्माकी गुप्ति है। जो साधु
गुप्तिभावका परिहार करके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिसे सुर-
हो जाता है वह साधु साक्षात् प्रतिक्रमणस्वरूपमें स्थित होता है।
निश्चयचारित्रका स्वरूप है। निश्चयचारित्रमें प्रतिक्रमण सहज भरा
हुआ है, या यों कह लीजिए कि इन तीनों गुप्तियोंसे गुप्त पुरुषके परम-
निश्चयचारित्र होता है अथवा यों कह लो कि परमार्थप्रतिक्रमण होता
है। दोनोंका लक्ष्य शुद्धतत्त्वकी ओर है। यह परमार्थप्रतिक्रमणस्वरूप साधु
परमतपस्वी है। त्रिगुप्ति धारण किए बिना मनपर्ययज्ञान प्रकट नहीं हो
सकता, विशुद्ध अवधिज्ञान प्रकट नहीं हो सकता।

परमतपश्चरण और अपूर्व ध्यान— जो मुनीश्वर परमतपश्चरण
रूप कमलके पुष्पोंको विकसित करनेके लिए प्रचण्ड सूर्यकी तरह हैं, जैसे
सूर्यके उदय होने पर ये कमल विकसित हो जाते हैं इसी तरह जिन
मुनीश्वरके इस परमपारिणामिक भावके अवलम्बनरूप भावसे परमतपस्या
विकसित हो जाती है ऐसा यह आसन्न भव्य मुनीश्वर बाह्य प्रपंचोंको
त्यागकर अर्थात् मन, वचन, कायके विस्तारका परिहार करके यह अपूर्व
आत्माका ध्यान करता है अर्थात् जिस प्रकारसे उस आत्माको अब तक
कभी नहीं देखा था, ऐसे सहज स्वभावमय रूपमें अपने आत्माका ध्यान
करता है।

समताभावमें अपूर्व आत्मध्यान और निश्चयप्रतिक्रमण— आत्मा
का अभेद ध्यान परमसमताभावके बिना नहीं हो सकता। जब तक राग
और द्वेष बसे रहेंगे तब तक इसका लक्ष्य भिन्न परविषयोंकी ओर रहेगा,
जब बाह्यकी ओर उपयोग है, संकल्प विकल्पमें उपयोग व्यस्त है वहां इस
ज्ञानानन्द स्वरूप सहज चित्स्वभावमात्र आत्माकी दृष्टि कहां हो सकती है?
जब यह आत्मा मन, वचन, कायको वश करके संकल्प विकल्पसे रहित
होकर मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहता है उस समय यह महात्मा इस अपूर्व आत्म-
तत्त्वका दर्शन करता है। जो मुनीश्वर इस आंतरिक परमतपस्यासे बाह्य
प्रपंचोंको तजकर समाधिबलसे सहज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका अवलोकन

करता है वह परमसंयमी निश्चयप्रतिक्रमणमय है।

असमाधिभावमें कल्याणका अभाव-- यह परमार्थप्रतिक्रमणका प्रकरण है। इसमें दोषोंका परिहार करके गुणोंके विकासकी कथनी की जा रही है, जिन्हें दूर करना है। उनसे उपेक्षा न आये तो दूर कैसे हो सकते हैं। जैसे घरके बूढ़े बाबा बहुत अपने पोतोंको खिलाते हैं तो वे ही पोते उस बूढ़ेके सिर पर चढ़ते हैं। तो इस आफतको किसने डाली ? अरे उस बूढ़े बाबा ने स्वय ही यह आफत अपने ऊपर डाल ली। अब अगर वे बूढ़े बाबा उन पोतोंको मार दें तो कहो रोटियां भी न मिलें। अरे न करते पहिलेसे स्नेह तो ये आफतें, ये बवाल न आते। यह जीव भिन्न विषयवासनावोंको अपनाता है, इसके फलमें इसकी बरबादी होती है, अरक्षा है। जब तक उन दोषोंसे उपेक्षा न करें तब तक गुणोंकी ओर प्रीति नहीं हो सकती है। जो विषयभावोंसे, कषायपरिणामोंसे अपनी प्रीति बनाये रहते हैं उनको इनके सम्बन्धमें यह ध्यान भी न आ सकता कि ये कषाय दुःखोंके घर हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये दुःखका बीज बोकर, दुःख देकर नष्ट होते हैं, उन कषायोंका जिन्हें परिचय नहीं है और उनको ही अपनाते हैं, कषाय करके ही अपनेको चतुर समझते है ऐसे पुरुषोंके गुणोंकी ओर प्रगति नहीं हो सकती है। गुणविकास करना है तो दोषोंको दोष जानकर उनकी उपेक्षा करनी पड़ेगी और जो सहज स्वाधीन स्वतंत्र निर्मल निष्कलंक स्वतःसिद्ध गुण है उसकी ओर दृष्टि होगी तो गुण विकास होगा।

परमार्थप्रतिक्रमणके अर्थ चित्तको शान्त करनेकी आवश्यकता— दोषोंसे उपेक्षा करके गुणोंकी ओर दृष्टि करके जो पुरुष परमविश्राम लेता है उसके यह निश्चयप्रतिक्रमण होता है अर्थात् यह संत उन सब दोषोंको दूर करके अपने सहजशुद्ध आनन्दमें मग्न होता है। इस कारण हे भव्य पुरुषों ! हे कल्याणार्थी जनों ! इस मनके वश मत रहो। कुछ विवेक लावो, ज्ञानबल बढ़ावो। उसमें कल्याणका मार्ग मिलेगा। यदि कल्याण चाहते हो तो मनको हित कार्यसाधक बनावो। इस मनको अपने ज्ञानप्रकाशकी ओर तो लावो। यह मन ज्ञानप्रकाशकी ओर आ तो जायेगा किन्तु ज्ञान प्रकाशके निकट आकर यह शांत हो जायेगा, बुझ जायेगा। फिर इस ज्ञान प्रकाशके अभ्युदयके समय केवल यह उपयोग ही काम करेगा।

वचनगुप्तिकी आवश्यकता-- भैया ! इस वचनके भी वशमें मत आवो। प्रथम तो दूसरे लोग जो वचन कहते हैं उस वचनके भी वश मत आवो अर्थात् उन वचनों को अनुकूल या प्रतिकूल मानकर हर्ष अथवा

विपाद मत करो और अपने आपमें भी वचनक्रियाके प्रसंग न रक्खो। वचन बोलने के लिए हो अपनी तैयारी न बनावो; वचनोंको वश रखो, अन्तर्जल्प व बाह्यजल्पको तजकर नीरग निस्तरंग स्वभावमें विश्राम करो।

शुद्धात्मभावनाका उद्यम— इस शरीरको भी प्रवृत्तियोंसे रोको। कुछ क्षण मन, वचन, कायको शांत करके परमविश्रांत स्वभाव नियत आकिञ्चन्य आनन्दमय विशुद्ध अंतस्तत्त्वको देखो। इसके दर्शनसे ही समस्त दोष, समस्त बंधन समाप्त हो जायेंगे। इस अंतस्तत्त्वकी सीमासे जहां बाहर आये और बाहर कहीं ढूँढा वहां ही इस पर संकट लग जाया करते हैं। मन, वचन, कायकी अगुप्तिको त्यागकर, उनके उपयोगको त्याग कर सम्यग्ज्ञानके पुञ्ज इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना करो और शाश्वत सहज सिद्ध अपने आप जो अनुभवमें आता हो उसको अनुभवो, चेष्टा करके कुछ भी मत करो। एक चित्स्वभावमें ही स्थिरता करो।

आत्मरक्षाका अनुरोध— जो पुरुष इन अगुप्तियोंका परित्याग करके गुप्तिस्वरूप आत्मतत्त्वमें स्थिर होता है उसके ही यह निश्चयप्रतिक्रमण होता है। यही वास्तविक शील है, यही निर्मल चारित्र है। केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना, अपने आपमें निस्तरंग परिणत हो जाना यही वास्तविक प्रतिक्रमण है, यही गुणविकासका उपाय है, यही परमनिर्वाणका साधन है। इन साधनोंसे अपने आपको निर्मल बना सके तो इस अनादि अनन्त कालमें भटकते हुए जो आज दुर्लभ नरजीवन पाया है उसकी सफलता होगी। विषय-कषायोंमें रमने से तो समयकी ही बरबादी है। कौन भोग भोगता है ? भोगोंका क्या बिगाड़ होता है ? भोगोंको भोगकर यह जीव खुद भुग जाता है। इस अरक्षाको त्यागकर रक्षाकी प्राप्तिमें आवो और अपना शेष अनन्तकाल आनन्दके अनुभवमें व्यतीत करो। इस तरह इस परमार्थप्रतिक्रमणके स्वरूपको कहते हुएके प्रसंगमें यह द्विचरण गाथा है। अब इसके बाद अगली गाथामें प्रतिक्रमणका स्वरूप अंतिम उपसंहार रूपसे कहा जायेगा।

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ॥८९॥

परिहार्य ध्यानोंमें आर्तध्यानकी व्युत्पत्ति— जो आर्तध्यान रौद्र ध्यानको छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है वह तपस्वी प्रतिक्रमण कहा जाता है ऐसा जिनेन्द्र देवके द्वारा निर्दिष्ट किए गये सूत्रों में कहा गया है। ध्यान ४ प्रकारके होते हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आर्तध्यानका अर्थ है आर्तिमें होने वाला ध्यान।

आर्ति मायने पीड़ा। पीड़ामें जो संकल्प विकल्प होता है जो चित्तकी गति होती है उसे आर्तध्यान कहते हैं।

चतुर्विध आर्तध्यानका निर्देश— अपने देशका त्याग हो, देश छोड़ कर जाना पड़े अथवा धनका नाश हो या अपने इष्ट मित्र जन विदेश चले जायें अथवा स्त्री आदिका वियोग हो जाय ऐसे अभीष्ट पदार्थके वियोग होने पर जो पीड़ा होती है और जो उस पीड़ामें संकल्प विकल्प होता है, चित्त किसी दूसरी ओर एकाग्र रहता है उसको इष्ट वियोगज आर्तध्यान कहते हैं और जो अपने विषयोंमें बाधक हैं, मनके प्रतिकूल हैं, शत्रु, खोटा मित्र, विघ्नकर्ता पुरुष इनके संयोग होने पर जो इनके वियोगके लिए विनाशके लिए चिंतन बना रहता है उस समय जो पीड़ा होती है उस पीड़ामें जो ध्यान बनता है उसे कहते हैं अनिष्टसंयोगज नामक आर्त ध्यान। ऐसे ही शरीरकी वेदना हो जाय, रोग हो जाय, चोट लग जाय, शरीरमें किसी प्रकारकी पीड़ा होने पर कराहना, विह्वलता करना, ये सब वेदना प्रभव आर्तध्यान है। वहां तो पीड़ा स्पष्ट है। उस पीड़ामें जो चित्त की गति होती है, चित्त जिस ओर लग जाता है ऐसे एकाग्र चिंतनको वेदना प्रभव आर्तध्यान कहते हैं, इसी प्रकार किन्हीं विषय साधनोंकी इच्छा करना यह निदान है। निदानमें भी बड़ी पीड़ा होती है। किसी चीजकी इच्छा कर रहे हैं, प्रतीक्षा कर रहे हैं, आशा लगाए हैं, तो जब तक वह चीज नहीं मिली है तब तक तो उसके निदान चलता है। इस निदानके समयमें बहुत विह्वलता होती है। उस आकुलतामें जो एकाग्र चिंतन होता है उसे कहते हैं निदान नामक आर्तध्यान। इस आर्तध्यानमें जो जीव बसा रहता है उसके प्रतिक्रमण कहां सम्भव है?

रौद्र ध्यानोंमें हिंसानन्द रौद्रध्यान— इसी प्रकार दूसरा ध्यान है रौद्रध्यान। रौद्र आशयमें उत्पन्न होने वाले ध्यानको रौद्रध्यान कहते हैं। किसी जीवकी हिंसा करना, किसीके मारनेका प्रोग्राम होना, उसमें अपनी अभिरुचि रखना, कोई हिंसा करले तो उसे देखकर खुश होना, जो अपने मनके प्रतिकूल हैं ऐसे बान्धवजनोंमें, परिजनोंमें, मित्रजनोंमें अथवा शत्रुजनोंमें उनके द्वेषके कारण उनका वध विचारना, बंधन विचारना और उसमें खुश होना, यह सब रौद्रध्यान है। रौद्रध्यानमें यह जीव राग और द्वेषको करके हर्ष मानता है। आर्तध्यानमें शोक मानता है। आर्तध्यानसे भी भयंकर यह रौद्रध्यान है। आर्तध्यान तो छठे गुणस्थान तक सम्भव है। वहां निदान नामक आर्तध्यान न होगा, बाकी तीन आर्त ध्यान मुनि तकके हो जाते हैं, किन्तु रौद्रध्यान मुनिके रंच भी सम्भव

नहीं है। रौद्र ध्यान किसी प्रकार पंचम गुणस्थान तक ही सम्भव होता है। तो वंध, हिंसन पीडन आदिमें हर्ष मानना ये हिंसानन्द रौद्रध्यान है।

मृषानन्द, चौर्यानन्द व विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान— झूठ बोलने में आनन्द मानना, चुगली कर रहे, झूठी गवाही दे रहे, किसीको छका रहे, किसीकी मंजाक उड़ा रहे, ऐसे असत्य वर्तावको करके आनन्द मानना सो मृषानन्द रौद्रध्यान है। चोरी करनेमें आनन्द मानना सो चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। किसीकी चोरी हो जाय उसे देखकर आनन्द मानना अथवा किसीको चोरीके उपाय बतानेमें शौक रखना, चोरी सम्बन्धी कुछ कल्पनाएँ करे उनमें हर्ष मानना सो चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान है। इसी प्रकार अंतिम रौद्रध्यान है विषयसंरक्षणानन्द, अर्थात् पंचेन्द्रियके जो विषय हैं उन विषयोंके साधनभूत जो बाह्यपदार्थ हैं उनका संचय करनेमें मौज मानना, उनके सम्बन्धमें संकल्प विकल्प करना, ये सब विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है।

विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यानके विषय— इनमें स्पर्शन इन्द्रियके विषयभूत शीतल गर्म पदार्थ अथवा कामविषयक साधन, ये स्पर्शनइन्द्रिय के भोगसाधन हैं। रसनाइन्द्रियके भोगसाधन हैं उत्तम स्वादिष्ट रस व्यञ्जन और जिन वस्तुवोंसे ये व्यञ्जन तैयार होते हैं उन वस्तुवोंका संग्रहण और उनके भोगनेमें आनन्द मानना, सो ये सब विषयसंरक्षणानंद नामक रौद्रध्यान हैं। ऐसे ही घ्राण इन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय के जो जो साधन हैं उनको जोड़ना, उनकी व्यवस्था बनाना, आनन्द मानना सो विषयसंरक्षणानन्द है और इतना बड़ा जो परिग्रह संचय किया जाता है; महल, मकान, घर, आरम्भ, परिग्रह, धन वैभव सम्पदा रकम जो संगृहीत किए जाते हैं और उनका उपाय बनाया जाता है यह है मनका विषय। क्योंकि यह जीव इन चेतन अचेतन पदार्थोंके संग्रहणमें बड़प्पन मानता है। सोचता है कि जितना विशेष धन होगा उतनी ही हमारी इज्जत बनेगी। जितना विशेष हमारी पार्टीका समूह होगा उतना ही हमारा बड़प्पन होगा। तो इन बाह्य पदार्थोंके संचय करनेमें यह सब मनका विषय होता है अर्थात् इस चेतन अचेतन परिग्रहको रखते हुए परिग्रहके स्वरूपमें मौज मानना, सो यह विषयसंरक्षणानन्द है।

धर्म्यध्यान व शुक्लध्यानमें निश्चयप्रतिक्रमण— जो ऐसे रौद्रध्यानमें रहता है उसके दोषोंकी शुद्धि कैसे सम्भव है? जो आर्तध्यान और रौद्रध्यानको तजता है और उन खोटे ध्यानोंको तजकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें प्रवृत्त होता है उस ही तपस्वी साधुसंतके निश्चयप्रतिक्रमण होता

होते हैं, जिनकी गणना नहीं है, असंख्यात दोष हैं। जिनको संक्षेपमें कहा जाय तो रागद्वेष मोह हैं। इन तीनोंका विस्तार इतना अधिक होता है कि उनके पद्धतिभेदमें, विषयभेदमें असंख्यात प्रकार होते हैं। उन असंख्यात प्रकारके दोषोंको दूर करनेकी सामर्थ्य एक विशुद्ध सहज परमात्मस्वभावके आलम्बनमें है। सो जो ऐसे परमपावन पारिणामिक भावमय सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अंतस्तत्त्वका ध्यान करता है वह निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप है, यह ही महाशील है, यह ही परमकल्याण है--ऐसा शास्त्रोंमें भी बताया गया है।

श्रुतका निश्चयव्यवहार गुम्फितपना-- ये शास्त्र आचार्यदेव द्वारा रचित हैं, आचार्यदेवने अपनी बुद्धिसे, अपने मनसे यों ही नहीं रचे हैं किन्तु जो पूर्वपरिपाटी रही आयी है, अपने प्रधान आचार्योंकी, जो परम्परा रही आयी है उस परम्परासे चला आया हुआ यह समस्त ज्ञान है। उन समस्त आचार्योंको मूल परम्पराके मुख्य प्रणायक आचार्य होते हैं गणधर देव, गणेश। गणेशोंने जो भी वस्तुस्वरूप बताया है वह सब वस्तुस्वरूप निश्चय और व्यवहारनयसे गुंफित है। निश्चयका विषय है अभेद और व्यवहारका विषय है भेद।

निश्चयव्यवहारात्मकताकी अलङ्कारात्मकता-- भैया! आजकल जो गणेशकी मूर्ति बनाते हैं वह सब इस व्यवहारनिश्चयनयात्मकताका प्रतीक है। जैसे गणेशका शरीर तो रहता है मनुष्यका और मुख रहता है हाथीका। उस मनुष्य शरीरमें हाथीका मुख जैसे ऐसा फिट हो गया है ऐसा अभेद हो गया है कि वहां दो बातें अब नहीं रहीं, भेद कुछ नहीं रहा कि इतना तो यह मनुष्य है और इतना हाथी है अथवा यह जुड़ा हुआ है ऐसा कुछ नहीं मालूम होता है। एक अभेद बन गया है, इसी प्रकार निश्चय दृष्टिमें ऐसा अभेद बन जाता है कि दो पदार्थोंमें भेद नहीं प्रतीत होता है और गणेशकी सवारी है- चूहा, जैसे चूहा कपड़ेको, कागजको कतर-कतर कर इतना छिन्न भिन्न कर देता है कि जितना छिन्न भिन्न हम आप फाड़-फाड़कर भी नहीं कर सकते। कपड़े को अथवा कागजको हम आप फाड़कर उतना छिन्न-भिन्न नहीं कर सकते जितना कि चूहा उनको काट काटकर छिन्न-भिन्न कर देता है। जैसे मूषकने इतना भेद कर डाला वस्तुका छिन्न-भिन्न करके, ऐसे ही व्यवहारनयने भी इतना भेद कर डालता है, वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे और इस भेदके प्रभेदके विस्तारोंसे, वह व्यवहारनयका प्रतीक है। ऐसे ही निश्चय और व्यवहार नयका जहां सामञ्जस्य है उसे अलंकाररूपमें लोगोंने यों गणेशकी मूर्ति

बनायी है।

निश्चयज्ञानकी उत्कृष्टता— जहां निश्चय और व्यवहारका प्रतिपादन है, सामञ्जस्य है और जैसे चूहे पर गणेश विराजे हैं ऐसे ही व्यवहार पर निश्चय विराजा है। ऊपर तो निश्चय ही है, व्यवहार उसका आश्रय है, साधन है, ऐसे ही निश्चयव्यवहारात्मक श्रुत ज्ञानके महाप्रणेता हैं गणधरदेव। गणधरका ही नाम गणेश है। चूंकि समस्त ज्ञानका मूल गणेश जी अर्थात् गणधर हुए हैं, इसी कारण आज लोकपरम्परामें शुभ कामोंके लिए गणेशको नमस्कार किया जाता है और उनको ज्ञान देने वालेके रूपमें निरखा जाता है।

द्रव्यश्रुतका मूल स्रोत महादेवाधिदेव जिनेन्द्र— इन गणधरोंने, इन गणेशोंने जो मूल सूत्रश्रुत पाया है वह जिनेन्द्र महादेवके मुखसे जो दिव्यध्वनि खिरी है उससे प्राप्त किया है। लोकमें ऐसी प्रसिद्ध है कि महादेवने डमरू बजाया और उस डमरूसे प्रथम १४ सूत्र निकले, जो लघु सिद्धान्त कौमुदीमें बताये गये हैं। तो यह भी एक अलंकार है। जितने भी सूत्र निकले हैं, जो ज्ञानका मूल स्रोत है वह है दिव्यध्वनि। डमरूमें जो आवाज निकलती है वह किसी एक रूप नहीं है, इसी प्रकार जो भगवानकी दिव्यध्वनि निकली है वह भी किसी एक अक्षररूप नहीं है, अनियतभाषारूप नहीं है, वह अनुभय वचन है और वे निकलते हैं चार घातिया कर्मोंका विनाश करने वाले, रागद्वेषका पूर्णतः क्षय करने वाले जिनेन्द्रमहादेवके शरीरसे। ऐसी जिनेन्द्रदेवकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे चले आये हुए, आचार्य परम्परासे चले आये हुए द्रव्य श्रुतमें यह परमार्थप्रतिक्रमणका स्वरूप कहा गया है।

परमध्यानमय परमार्थप्रतिक्रमणके परमार्थ पुरुषार्थका निर्देश— यहां यह बताया गया है कि इन चार ध्यानोंमेंसे जो आर्तध्यान रौद्रध्यान का परित्याग करके धर्मध्यानको ग्रहण करता है और इस धर्मध्यानके प्रसादसे सर्वदा उपादेय जो निश्चय परमशुक्लध्यान है उसको जो ध्याता है वह पुरुष साक्षात् प्रतिक्रमणस्वरूप है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है। इस प्रकार प्रतिक्रमणके स्वरूपके वर्णन करनेके इस प्रकरणमें चूंकि परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार है ना, अतः परमार्थस्वरूप जो शाश्वत आत्माका चैतन्यस्वभाव है उस स्वभावके अवलम्बनकी प्रमुखतासे यह सब प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है। जो इस प्रकार प्रतिक्रमण स्वरूप होता है वह नियमसे निकट कालमें परमनिर्वाणको प्राप्त होता है। हम अपने दोषोंकी निवृत्ति के लिए इस [illegible] र्थस्वरूप अंतस्तत्त्वका ही आश्रय करें। यही परमशरण

है, यही परममंगलमूर्ति है।

ध्यानोंके निर्देशन— अध्यात्मपद्धतिसे शुक्लध्यानका स्वरूप कहा जा रहा है। ध्यान तो चित्तकी एक ओर एकाग्रता लानेको कहते हैं। कौन चित्त किस विषयकी ओर एकाग्र होता है, इसके भेदसे ध्यानमें भेद होता है। यदि चित्त पीड़ाके विषयोंमें लगता है तो वह आर्त ध्यान है। यदि चित्त खोटे कार्योंके करनेमें हर्ष माननेमें लगता है तो वह रौद्रध्यान है। चित्त विशुद्धस्वरूपमें और उस विशुद्ध स्वरूपके साधक साधनोंमें लगता है तो वह धर्मध्यान है और शुक्लध्यान वह है जहां किसी प्रकार मन, वचन, कायकी क्रियाएँ नहीं हैं अर्थात् गुप्तिकी पूर्ण साधना है। जहां इन्द्रियके विषयोंका कार्य नहीं है, विषयोंसे अतीत है, इन्द्रियसे परे है, जहां ध्यान और ध्येयका भी भेद नहीं है, एक आत्मतत्त्व है और उसका रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञाता द्रष्टारूप परिणमन है, जहां अंतस्तत्त्वकी ओर उपयोग बना रहता है ऐसे ध्यानको शुक्ल ध्यान कहा करते हैं।

निश्चय शुक्लध्यानमें परमार्थप्रतिक्रमण— परमार्थप्रतिक्रमण ऐसे ही परम शुक्लध्यानसे होना है। जिस समय यह आत्मा ही ध्यान करने वाला है और यह आत्मा ध्यानमें आ रहा है और अभेद पद्धतिसे आ रहा है, उस ध्यान करते हुए ये इतना भी संकल्प अथवा विकल्प न हो रहा हो, ऐसे विशुद्ध अभेद ध्यानको शुक्लध्यान कहते हैं। यह शुक्लध्यान हमारी समझमें कैसे आए, इसका क्या स्वरूप है, इसकी जानकारी कैसे बने? इस के लिए शुद्धनयका आश्रय लेना होता है। मूलमें नयके भेद है शुद्धनय और अशुद्धनय। शुद्धनय तो वस्तुकी सही निरपेक्ष स्वतःसिद्धस्वरूपको निरखता है और अशुद्धनय वस्तुके सहजस्वरूपको न देखकर अन्य भावोंको निरखना है। शुद्धनयका जब हम आलम्बन करें तो वहां यह ध्यानावली, यह ध्यानपरम्परा भी दृष्टिगत नहीं रहती है। अपने आपका जो सहज ज्ञायक स्वरूप है उस ही तत्त्वमें वह प्रकट रहता है।

ज्ञानका शुद्ध रूप – इस आत्माका ध्यान है, यह आत्मा ध्यान करता है, इसका ध्यान बराबर चल रहा है, यह मैं अमुकका ध्यान करता हूं ऐसी ध्यानविषयक चर्चायें व्यवहारनयमें ही दृष्टिगोचर होती हैं। शुक्ल ध्यानमें जहां कि परमार्थप्रतिक्रमणका अंतिम रूप बनता है, सर्वदोषोंकी जहां निवृत्ति हो जाती है वह शुक्लध्यान सम्यग्ज्ञानका आभूषण है। वास्तवमें ज्ञान वह कहलाता है जो ज्ञान ज्ञानको जाने। ज्ञानका उत्कृष्ट शृङ्गार, ज्ञानकी उत्कृष्ट स्थिति वह है जहां जानने वाला यह ज्ञान इस जानने वाले ज्ञानके स्वरूपको ही जानने लगे और इस परम प्रगतिकी दृष्टि

जब खिरा करते हैं तो शीघ्र खिरते है, धीरे धीरे नहीं खिरते हैं कि अब खिरने लगे हैं तो हजारों वर्ष लग जायेंगे। अरे कूड़ा तो जरूर बहुत अधिक पड़ा हुआ है, अबसे अनगिनते वर्ष पहिले भी जो कर्म बंधे थे उनका भी सत्त्व मौजूद है। लाखों करोड़ों, अरबों, शंख महाशंखों वर्षोंकी कितनी ही गणना लगाते जावो, जीवमें बहुत दिनोंके कर्म मौजूद हैं, मगर यह कूड़ा कचरा ढोकर न निकाला जायेगा, किन्तु आत्मध्यानकी अग्नि कणिका लग गयी तो क्षण भरमें ही सब कूड़ा कचरा ध्वस्त हो जाता है। वह अग्नि कणिका कौनसी है ? वह है सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन।

व्यामोहियोंके संतोषके स्थल— मोही लोग व्यामोहभावमें आकर कैसे कैसे संतोष मान रहे हैं--कोई स्त्री पुत्रोंसे संतोष करते हैं, कोई किसी से अपना संतोष करते हैं पर वहां संतोषको क्या कुछ अवकाश भी है ? रंच भी अवकाश नहीं है। अरे--जैसे जगत्के सभी जीव अत्यन्त भिन्न हैं ऐसे ही कुटुम्बके ये लोग भी अत्यन्त भिन्न हैं। जैसे जगत्के सभी जीव अपने-अपने ही कषायोंके अनुकूल वर्ताव किया करते है ऐसे ही ये परिजन और मित्र गोष्ठीके लोग भी अपने-अपने कषायोंके अनुकूल वर्ताव किया करते हैं। जैसे जगत्के सभी जीव अपने आपको ही चाहते हैं, इस ही प्रकार ये परिजन भी अपने ही आपको, अपने ही सुखको चाहते हैं। कौनसी विशेषता है इन परिजनोंमे जिससे कि संतोष करलें, पर मोहका ऐसा अजब नृत्य है कि जो अनहोनी बात है उसे भी यह होनी में शुमार करने की कोशिश करता है। यह त्रिकाल नहीं हो सकता है कि हम किसी भी परजीवको संतुष्ट करदें या कोई परजीव मुझे संतुष्ट करदे, किन्तु यह मोही सुभट त्रिकाल अनहोनी बातको भी होनी बनाना चाहता है और दुःख है किस बातका ? अनहोनी बातको होनी बनानेका यह जीव प्रयत्न करता है।

अमीरी और गरीबी— भैया ! जो धन वैभव सम्पदा इनमें संतोष किया करते हैं ऐसे व्यामोही पुरुष इस अमूर्त ज्ञानमात्र सबसे विविक्त आत्मतत्त्वको नहीं जान सकते हैं। परपदार्थोके उपयोगसे आत्मतत्त्वकी कौनसी बड़वाई हो जाती है ? ऐसे अज्ञानकी ओर जिनका उपयोग लगा है उन पुरुषोंसे बढ़कर किसे गरीब कहा जाय ? लोग तो बाहरी दशाको देखकर ही अमीर गरीबकी परख कर रहे है, पर अमीरी वास्तविक वह है जहां शांति मिले और गरीबी वह है जहां अशांति रहे। धन सम्पदाके कारण अमीरी और गरीबीका निर्णय करना केवल एक मोह नींदका स्वप्न है। यह परमात्मतत्त्व यह सहजस्वभाव जिसकी दृष्टिमें आया है वह ही

वास्तविक अमीर है और ऐसा ही अमीर भव्य पुरुष परमार्थप्रतिक्रमणके बलसे समस्त दोषोंको दूर करके शुद्ध आनन्दको प्राप्त करता है।

प्रतिक्रमण शरण— हम आपका शरण अब वर्तमानमें एक प्रतिक्रमण ही है, अर्थात् प्रथम तो हम भगवद्भक्ति करके, ज्ञानाभ्यास करके मात्र अपने आपको विषयकषायोंसे बचाएं और अपने गुणोंके स्वभावकी महनीयता निरखकर वर्तमान या भूतकालमें जो दोष बन गए हैं उनको भी एक नजरसे अंदाज करके एक महान् पश्चात्ताप करना चाहिए। मौज माननेसे कुछ काम न सरेगा। इतना अपराध है, इतनी त्रुटि है, इतना बाह्यकी ओर रम रहे हैं कि अब इसके ही पश्चात्ताप, प्रायश्चित, रंज, शोक विषाद करनेको अभी बहुत काम पड़ा हुआ है, उससे भी कुछ अपने आप पर दया आयेगी और प्रभुके शुद्धस्वरूपमें भक्ति जगेगी और अपने आपके स्वभावके विकासके लिए उत्साह जगेगा। इन सब भावोंके स्पन्दनमें आत्मामें ऐसी क्रांति उत्पन्न होगी जिससे यह अपूर्व आत्माके दर्शन करेगा और उसे समस्त त्रुटियों दंदफंदसे निवृत्ति होगी।

अभेदध्यानमें प्रतिक्रमणकी पूर्णता— प्रतिक्रमणके भावके फलमें जो कि आत्मधर्मस्वरूप है, अब कुछ आगे चलकर इस ही साधनाकी प्रगतिमें बढ़कर ऐसा रागद्वेषरहित ध्यानी होगा, समाधिभावको जगाता हुआ ध्यानी बनेगा कि जिससे फिर आत्माका अभेद ध्यान बन जायेगा, शुक्लध्यान हो जायेगा। इस ही शुक्लध्यानकी पूर्णतामें परमार्थप्रतिक्रमणकी पूर्णता होती है। इसी कारण परमार्थप्रतिक्रमणके अधिकारमें अनेक पद्धतियोंसे इसका स्वरूप बताते चले आ रहे थे। अब परमार्थप्रतिक्रमणके एक पद्धतिसे बताये जा रहे स्वरूपके उपसंहारमें आखिरी गाथा कही गयी है। इसमें परमशुक्लध्यानकी बात कह कर परमार्थप्रतिक्रमणके स्वरूपको कहनेकी समाप्ति की जा रही है क्योंकि परमार्थप्रतिक्रमणकी पूर्णता निश्चयपरमशुक्लध्यानमें ही होगी।

करणानुयोगमें शुक्लध्यानके विकास— यह शुक्लध्यान करणानुयोगकी विधिमें ८ वें गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है। इस अपूर्वकरणवर्ती आत्मामें बसे हुए शुक्लध्यानसे अपूर्व ६ बातें प्रकट होती हैं। प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिका होना, पहिले बांधे हुए कर्मोंकी स्थितिका कम होना, नवीन जो कर्म बँध रहे हैं उनकी कम स्थितिका होना, जो कर्मोंका अनुभाग रस पड़ा हुआ है वह अनुभाग भी कम हो जाना, जो पाप प्रकृतियां पहिलेकी बँधी पड़ी हैं उनका पुण्यरूप हो जाना, असंख्यात गुणे कर्मोंकी निर्जरा होना, ये ६ अपूर्व बातें हैं। यह शुक्लध्यान और अभेदरूप

बनता है, परम होता है तो फिर ३६ प्रकृतियोंका क्षय हो जाया करता है और भी आगे प्रगतिशील होता है शुक्लध्यान। वहां सूक्ष्म लोभका भी विनाश हो जाता है, फिर परम यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है। वहां भी शेष बचे हुए घातिया कर्मोंको विनष्ट कर देता है तब सकल परमार्थ अवस्था प्रकट होती है और उस समय इसने परमार्थप्रतिक्रमणका लाभ पाया समझिये। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान तक यह प्रतिक्रमण उत्तरोत्तर प्रगतिशील होता है। इसके प्रतापसे संसारके समस्त संकट टल जाया करते हैं।

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविदा पुव्वं।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण ॥९०॥

भावित और अभावित भाव— परमार्थप्रतिक्रमणकी भक्तिमें ज्ञानी जीव पूर्वापर परिणामियोंके अन्तरका देखता हुआ चिंतन कर रहा है कि इस जीवने मिथ्यात्व आदिक परिणाम पूर्वकालमें बहुत दीर्घकालसे भाये हैं, किन्तु सम्यक्त्व आदिक परिणाम इस जीवने नहीं भाये हैं। इन दुःखी जीवोंको यह पता नहीं रहा कि इस लोकमें मैं सबसे न्यारा अपने लिए केवल अकेला हूं और स्वयं अपने लिए आनन्दसे भरपूर हूं, इस सही बातका पता न होनेसे इस जीवने दर दर भटककर नाना विपत्तियां सही हैं। कितनी तनिकसी बात है? अपने आपमें झुकने और सामनेकी बात है। परको रिझानेका, परको प्रसन्न करनेका प्रोग्राम होना तो कठिन बात है, पर यह तो खुद खुदमें समाये, व्यापे ऐसी स्वाधीन बात है।

स्वरूपके निकटमें भी स्वरूपके अपरिचयसे परेशानी— अहो, जिसे रास्तेका पता नहीं है वह अभीष्ट घरके पास भी खड़ा हो तो भी वह परेशानीमें रहता है। मुझे अमुक घर जाना है, मिल नहीं रहा है अथवा असहायसा खड़ा हो, दूसरे से पूछता है भाई अमुक घरका रास्ता कौनसा है? वह कहता है कि यही तो है जहां तुम खड़े हो। ऐसे ही आनन्दका घर सर्वकल्याणका आश्रय यह खुद ही है, पर खुदको अपने इस निज स्वरूपका पता न होने से यह संकल्प विकल्पमें डूब रहा है। संकल्प विकल्प करके यह अपनेको ही परेशान कर रहा है, दूसरेका क्या बिगड़ता जिस दूसरे पर द्वेषकी दृष्टि भी रखी हो तो उस दृष्टिमें इसने अपना ही बिगाड़ किया, यह दूसरेका बिगाड़ करनेमें तो त्रिकाल असमर्थ है। निमित्तकी बात अलग है। यदि किसीका दुःखी होनेका उपादान है तो उसकी दुःखकारक प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर परवस्तु आश्रयभूत हो जाता है।

क्लेशमें परवस्तुवोंका अनपराध—ये दिखने वाले परपदार्थ मेरे क्लेशके निमित्त नहीं हैं। ये तो क्लेशके निमित्तके नोकर्म हैं। तभी यह व्यभिचार देखा जाता है कि एक ही पदार्थको देखकर कोई प्रसन्न हो जाता है कोई दुःखी होता है, कोई ज्ञाता द्रष्टा रह जाता है। ये पौद्गलिक पर्यायें इन्द्रियके विषयभूत पदार्थ मेरे सुखके अथवा दुःखके निमित्त नहीं हैं। हम सुखी और दुःखी जब होते हैं तो इन पदार्थोंको विषय बनाकर ही दुःखी सुखी हो पाते हैं। ऐसा विषयविषयी सम्बन्ध है पर इनमें सुख दुःखके कर्तृत्वका सम्बन्ध नहीं है। कितनी हैरानी की बात है ? अपना आनन्द कितना सुगम है, कितना निकट है, फिर भी यह हैरानी है। यह सब कुबुद्धि का परिणाम है।

निमित्तनैमित्तिक योगका न्याय—भैया ! हम कुबुद्धि करें तो उसके विपाक दुःखी होना निश्चित ही है, न्यायानुकूल ही है। लोग समझते हैं कि आजकल बड़े अन्याय हो रहे हैं। जगह-जगह कोई किसीको किसी तरह सताता है, सचाईका नाम नहीं रहता है, नाना मायाजाल पूरा जाता है, पद पद पर दुःख है, बड़ा अन्याय छाया है पर मूलमें देखो तो अन्याय कहीं त्रिकाल हो ही नहीं सकता। क्योंकि पूर्वकालमें जो अशुभभाव किया था और वहां जो अशुभ कर्मोंका बंध हुआ था उसके उदय कालमें यदि भली बात मिल जाय तो अन्याय है। पापके उदयमें यदि सुख मिल सके, यदि शांति मिल सके तो हम उसे अन्याय कहेंगे। उदय पापका है और उसे दुःख हो जाय तो यह अन्यायमें शामिल है या न्यायमें शामिल है ? कोई जीव बुरे भाव कर रहा है, भ्रष्टाचार करके दूसरोंको सतानेका उद्योग कर रहा है वहां न्याय हो रहा है यह कि ऐसे खोटे परिणामोंका निमित्त पाकर वहां पापकर्मका बंध हो रहा है यह है न्याय और जिन जीवोंके पापकर्मका उदय है उनको नाना प्रतिकूल घटनाएं मिलकर दुःख हो रहा है, यह है न्याय। अन्याय कहां है ?

साक्षीकी दृष्टिमें—यह मोही जीव जब अपने मनके अनुकूल बाहरी परिस्थिति नहीं देखता, उसे अन्याय कह बैठता है, पर जो साक्षीभूत है ऐसे ज्ञानी आत्माके सामने तो यह सारा न्याय हो रहा है। घड़ीमें चाभी न रहे घड़ी बंद हो गयी, यह क्या अन्याय है ? न्याय है, क्योंकि निमित्तनैमित्तिक संयोग इस प्रकारका है कि उसे बंद हो जाना चाहिए घड़ीमें यदि चाभी भरी हो तो चलेगी। सब विज्ञानका न्याय है।

कल्पित चतुराईमें दो कलाओंको अधिकता—एक बार किसी आम सभामें कोई मुसलमान भाषण कर रहा था। वह भाषण देनेमें बड़ा चतुर

था। जिस बिरादरीके लोगोंको जाते हुए देखे उनकी की कोई बात छेड़ दे तो उन लोगोंकी जिज्ञासा हो जाती थी कि सुने यह क्या कहता है इसके सम्बन्धमें ? यों बहुत आदमी एकत्रित हो गये थे। दस पांच जैन भाई भी निकले। मुसलमानने देखा तो जैनियोंके प्रति बात छेड़ दी, देखो भाई दुनियामें कला ७२ होती हैं मगर जैनियोंमें दो कला ज्यादा हैं, यह बात सुनकर जैन लोग वहां चले गये कि हम अपनी दो कलाएँ तो जान लें कि कौनसी दो कलाएँ जैनियोंमें बढ़ी हुई हैं। उस प्रवक्ता को तो अपना उद्देश्य बनाना था। उसे तो जीवोंकी हिंसा खुदाके नामपर करने को धर्म बनाना था। उसकी मंशा तो भाषणमें यह कहनेकी थी। सो बड़ी युक्तियोंसे अपनी समझके अनुसार चातुर्यसे हिंसामें धर्म भाषणमें सिद्ध किया। खैर बहुत देरके बाद किसी ने छेड़ ही दिया कि आपने जो जैनियोंमें दो कलाएँ अधिक बतायी वे कौनसी हैं ? तो उसने बताया कि जैनियोंमें दो कलाएँ ये हैं कि खुद जानना नहीं, दूसरोंकी मानना नहीं। हो गयीं दो कलाएँ अधिक कि नहीं ?

अज्ञानियोंकी अतिरिक्त कलावोंका शास्त्रमें संकेत— आप सोच रहे होंगे कि ये कैसी दो कलाएँ निकालीं ? आपको याद होगा इस सम्बन्धमें अमृतचन्द्र जी सूरिने भी इन दो कलावोंका निर्देशन किया है।

"इदं तु नित्यव्यक्ततयाऽन्तःप्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वात्स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं, न कदाचिदपि परिचितपूर्वं, न कदाचिदपि अनुभूतपूर्वं निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वम्।"

इस दुनियाके इन जीवोंने विषयोंकी कथाएँ बार बार सुनी, परिचय में लायीं और अनुभव किया किन्तु यह परमशरण परमात्मतत्त्व जो अंतः नित्यप्रकाशमान है, पर कषायोंके साथ अपने उपयोगको एकमेक कर दिया है जिसके कारण इसकी बुद्धि ऐसी खोटी हो गयी है कि परमात्मप्रभुको न तो यह स्वयं जानता है और उस परमात्मतत्त्वके जो जाननहार हैं उनकी उपासना संगति नहीं करता है। इसलिए सारशरणभूत तत्त्व न इसने कभी सुना, न परिचयमें आया, न इसके अनुभवमें आया। दो कलाएँ इसमें हैं कि नहीं ? खुद जानना नहीं, जानने वालोंकी मानना नहीं।

प्रतिक्रामकका चिन्तन— यह जीव अपने आपकी रक्षाके लिए बड़ा आलसी बन रहा है। इसने अपने आपकी शांतिके लिए यथार्थ कार्य नहीं किया, मोह ममतावोंमें ही बसा रहा। यह परमार्थप्रतिक्रमणका अधिकारी संत चिंतन कर रहा है दूसरे जीवोंको कुछ बतानेका बहाना

करके कह रहा है अपनी ही बातको। अहो देखो इस जीवने अब तक मिथ्यात्व परिणाम ही भाये, पर सम्यक्त्व आदिक भावोंकी भावना नहीं की। ऐसा वही कह सकता है जिसे सम्यक्त्वभाव प्रकट हुआ है और वहां दूसरोंका तो कहनेका बहाना है, अपने आपके बारेमें यह सोच रहा है कि मैंने कितना अनन्तकाल खोटी वासनाओंमें लगा दिया और बड़ी मुश्किलसे यह मनुष्यभव आज पाया है। अब यह सम्यक्त्वपरिणाम मेरा शिथिल न हो, ऐसी भावना है।

धर्मोपदेशमें स्वका अध्ययन— जैसे सेनाके सुभट लोग राजाकी, सेनापतिकी जय बोलते हैं। उस जय बोलनेमें उनके भीतरमें छिपी हुई अपने आपकी जय है। मैं सामने अमुक सुभटसे लड़ रहा हूं तो मैं जीत जाऊँ, इस उद्देश्यके लिए बड़े पुरुषकी जय बोलते हैं। ज्ञानीसंत जितने भी व्याख्यान करते हैं, लेखनसे या बोलनेसे, जितनी भी देशना करते हैं उपदेश आदि देते हैं दूसरोंको, यह एक उनकी विधि है। उपदेश देनेके समय भी वे अपने आपका ही अध्ययन करते हैं। स्वाध्यायके ५ भेदोंमें धर्मोपदेश नामका भी भेद बताया है। अर्थात् उसमें भी स्वाध्याय याने स्वका मनन है। यदि स्वके अध्ययनकी दृष्टि नहीं है तो वह धर्मोपदेश स्वाध्यायमें गर्भित नहीं हो सकता। जैसे कि पृच्छना— दूसरेसे प्रश्न पूछना इसमें स्वके अध्ययनकी दृष्टि है। तो पृच्छना भी स्वाध्याय हो जाता है। यदि स्वके अध्ययनकी दृष्टि नहीं है अपनी कला दिखानेकी दृष्टि है उस प्रतिक्रियासे दूसरों पर अपनी छाप छोड़नेकी दृष्टि है अथवा लोकमें मेरा मान इससे भी अधिक रहे, यह दृष्टि है तो समझो कि वह स्वाध्याय नहीं है। वह स्वाध्याय तभी है जब स्वके अध्ययनकी दृष्टि हो।

अज्ञानका परिणाम— यह गुणप्रकर्षका इच्छुक दोषपरित्यागका इच्छुक ज्ञानी सोच रहा है, इसने मिथ्यात्व अविरति कषाय योगके परिणाम जो कि कर्मबंधके कारणभूत हैं वे तो भाये, उनमें ही यह रमा, किन्तु जो शुद्ध ज्योति है उसके निकट नहीं पहुंचा। मात्र मोह मिथ्यात्व कषायसे अपने उपयोगको रंजित बनाया, रंगीला बनाया। इससे ज्ञानी पुरुषके वचन इसमें घर नहीं कर सके, खुद नहीं समझा और जो उपदेशक हैं आचार्य हैं, ग्रन्थ हैं, शास्त्र हैं, उनमें जो वाणी लिखी है, इन समस्त साधनोंकी उपासनासे भी अपने हृदयको पवित्र न किया।

शास्त्रकी वास्तविक विनय— भैया! जरा इस प्रसंगमें यह विचारिये कि शास्त्रकी विनय क्या है? शास्त्रकी अच्छी जिल्द बंधवा दिया अथवा, कपड़ेमें अच्छी तरह बांधकर शास्त्रको रख, यह क्या शास्त्रकी

विनय हो गयी ? अरे शास्त्रकी विनय वहां है जहां शास्त्रमें लिखे हुए जो वचन हैं उनके मर्मका परिज्ञान हो और प्रायः इस मर्मपरिज्ञानके साथ ही आनन्दके अश्रु भी निकल बैठें, वहां इसने शास्त्रका विनय किया। शास्त्रका उत्कृष्ट विनय यथार्थ विनय यही है कि शास्त्रमें जो मर्म भरा है उसका परिचय हो और दूसरे जीवोंको परिचय करावे यह उस शास्त्र का उत्कृष्ट विनय है। शास्त्रकी विनय ही ज्ञानकी विनय है। ज्ञान कैसा होता है, क्या होता है, उस ज्ञानपर न्यौछावर हो जाना आत्मसमर्पण कर देना, सर्व कुछ न्यौछावर कर देना, यह है वास्तविक ज्ञानकी विनय शास्त्र की विनय।

अकरणीय और करणीय विनय— इस जीवने अब तक स्त्री बच्चों की खूब विनय की। वे गालियां सुना दें तो भी सुनना पसंद किया। वे कितने ही हुकुम दें उन हुकुमोंके माननेमें दिन रात विनय कर मोहका कर्तव्य निभाया, अपना मन वचन सब कुछ न्यौछावर उस मोहके विषयभूत परिजनोंके लिए किया। आत्मरक्षाके लिए क्या किया ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी विनय किसने की ? ज्ञानस्वरूप और ज्ञानके साधक देव शास्त्र गुरुमें हमारी असली विनय वृत्ति बने तो हमने कुछ किया समझें।

जीवकी विपरिणतिका विस्तार— इस जीवने अज्ञान अवस्थामें जो वासनाएँ बनाई हैं वे हैं मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इन्हीं चार विभावोंका विस्तार जब होता है, देखा जाता है तो इसे कहते हैं तेरह गुणस्थान। मिथ्यात्वमें पहिला गुणस्थान है, अविरतिके मिथ्यात्व रहित अविरति तो दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थानमें है और सामान्यतया पहिले से चौथे तक है। अविरतिरहित कषाय ५वें से लेकर १०वें गुणस्थान तक है। और साधारणरूपसे पहिले गुणस्थानसे लेकर १० वें गुणस्थान तक है। मिथ्यात्व, अविरति, कषायरहित योग केवल ११ वें, १२वें और १३वें गुणस्थानमें है और वैसे सामान्यतया पहिले गुणस्थान से लेकर १३ वें गुणस्थान तक है। यहां तक कर्मोंका आश्रव बताया गया है। जिसका होनहार मुक्तिके निकट नहीं है ऐसा अनासन्न भव्य जीव एक इस निजपरमात्मतत्त्वकी प्रतीतिसे रहित तब तक रहता है जब तक इसने सम्यक्त्वकी भावना नहीं भायी।

जीवकी विपरिणतिका मूल कारण— इस मोही जीवको इसका विशद बोध नहीं है कि देखो जो भी कोई पदार्थ होते हैं वे अपने आप हैं, अपने आप अपना सत्त्व रखते हैं। जो स्वयं अपना सत्त्व रख रहा है उसका

स्वरूप निरपेक्ष है, स्वाधीन है, विविक्त है, अपने आपके स्वरूपमें है, परके स्वरूपसे दूर है। ऐसे सहज निरपेक्ष स्वतःसिद्ध निरञ्जन सदाशिव निज परमात्मतत्त्वकी श्रद्धा न रही थी, इस कारण इस मिथ्यादृष्टि भव्य जीवने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय योग इनकी भावना और वासना तो बनायी परन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी उपासना, भावना, दृष्टि नहीं की। विशदरूपमें, अनुभूतिके रूपमें यह आत्मतत्त्व तब प्रकट होता है जब नैष्कर्म्य चारित्र होता है, जहां कोई क्रिया नहीं रहे, जहां कोई रंग तरंग नहीं रहे, ऐसी जिस क्षण स्थिति बने उस क्षण आत्माकी अनुभूति होती है।

आत्मानुभूतिकी एक पद्धति— भैया! मोक्षमार्गकी प्राक् पदवीमें जहां अप्रत्याख्यानावरण कषायका भी उदय है और अन्तरमें उसका संस्कार भी है इतने पर भी कुछ क्षण ऐसे मिल जाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीवका कुछ क्षण कषायोंमें उपयोग नहीं रहता और वहां रंग-तरंग वृत्ति नहीं चलती है। ऐसी निष्कर्म अवस्थामें अर्थात् क्रियारहित अवस्थामें, ज्ञानस्वभावमें ही जब उपयोग हो रहा है तो ऐसी अवस्थामें आत्मानुभूति हो जाती है, चूँकि अन्तरमें संस्कार कषायका पड़ा हुआ है। अतः वह उपयोग इस ज्ञानस्वभावपर देर तक नहीं टिक पाता है। फिर कषायोंमें उपयोग चला जाता है। परन्तु आत्मानुभूति होती है तो वह सबके एक ही ढंगसे होती है।

स्थिर अथवा अस्थिर आत्मानुभूतिमें आत्मतत्त्वका समान स्वाद— जैसे किसी गांवमें बड़ी प्रसिद्ध एक हलवाईकी दुकान है जो बहुत मीठा पेड़ा बनाता है। खोवाको मंदी आंचमें सेका, उसी खोवामें जब थोड़ी शीतलता हो जाय तो उसे बूरेके साथ खूब घोटा। खोवासे आधी तादात बूरेकी रक्खी और उसे अच्छे आकारमें बना लिया। उसका स्वाद अच्छा बन गया। अब अमीर पुरुष आधासेर पेड़ा खरीद करके खाये और गरीब आदमी आधी छटांक ही पेड़ा लेकर खाये तो स्वाद तो दोनोंको एकसा ही आया। यह तो नहीं है कि उस गरीबको पेड़ा कड़ुवा लगा हो और उस अमीरको मीठा लगा हो, पर इतनी बात है कि अमीरने पेटभर छक कर खाया और गरीबने छककर पेट भर नहीं खाया, वह तृप्त न हो सका और तरसता रह गया। पर स्वाद तो जैसा उस अमीरको आया तैसा ही इस गरीबको आया। यों ही इस अव्रती महापुरुषको भी इन विभाव कर्मों की निर्जराके उपायसे आत्मानुभूति प्रकट हुई है और इस सम्यग्दृष्टि पुरुष को कुछ क्षणोंके नैष्कर्म्य यत्नसे आत्मानुभूति प्रकट हुई है। स्वाद तो वही

आया जो बड़े मुनीश्वरोंको आता है। अब इतना अन्तर है कि मुनीश्वर उस अनुभूति सुधारसको छककर पीते हैं और सदा प्रसन्न रहते हैं, तृप्त रहते हैं, उनकी बुद्धि व्यवस्थित है, जो कुछ करना है वह सब उनके लिए सुगम है, किन्तु इस अविरत पुरुष को स्वाद तो उस नैष्कर्म्यके ढंगसे आया, झलक तो आत्मानुभूतिकी आयी, परन्तु कषाय संस्कारमें थीं वह उदयमें आयीं, उनमें उपयोग भी गया। अब आत्मानुभूति छक करके न कर सका। वह तरसता ही रहा।

नियति और नियन्त्रण— कितना उत्कृष्ट आनन्द हुआ करता है इस आत्मानुभूतिमें? उसे तरसता रहता है यह अविरत ज्ञानी, पर स्वाद वही आया किसी क्षण जो अनुभूति हुई उसमें जो बड़े योगीश्वरोंको अनुभूतिमें आया करता है। यह सब नैष्कार्य चारित्रका प्रताप है। यह स्वरूपाचरण इस बहिरात्मा जीवको नहीं प्राप्त हुआ, यह स्वरूपविकल रहा, अपने स्वरूपको अपनी उपलब्धिमें न ला सका। खुद और खुदका आनन्द न ले सके यह कितने दुःखकी बात है? जैसे खुदकी ही वस्तु आज कलके जमानेमें कन्ट्रोलमें हो जाय तो खुद लाचार हो जाय उसको भोगने में और रखनेमें। चीज खुदकी है ऐसे ही यह ज्ञानानन्दस्वरूप स्वयंका है पर ऐसा यह नियंत्रित हो गया, आवृत हो गया कि खुद की ही वस्तु खुदके भोगनेमें खुदके रखनेमें नहीं आ रही है। तब फिर जैसे दुकानमें माल बहुत पड़ा है, पर उस मालका ग्राहक ही कोई नहीं है। कोई ले ही नहीं रहा है तो उस मालसे आय तो नहीं रही। इतना अवश्य है कि उसको संतोष है कि हमारे घरमें इतना माल है। ऐसे ही इस जीवक्षेत्रमें, जीवास्तिकायमें आनन्दकी अपूर्व निधि पड़ी हुई है पर यह उपयोगमें न आ रही, इससे कुछ आय नहीं हो रही है, बेकार पड़ा है? पर विदित हो जाय कि हां मेरेमें आनन्दस्वभावकी निधि बसी हुई तो उसको मोक्षमार्ग के योग्य ठसक तो रह सकती है कि है हमारे पास सब कुछ।

पासमें निधि होकर भी गरीबी— भैया! जब तक जिसको अन्तस्तत्त्वका अवलोकन ही नहीं हुआ, परिचय ही नहीं हुआ तो वह तो उस गरीबकी तरह है जिसके कि गठरीमें तो लाल बँधा है और वह रोटी रोटी मांगनेकी वृत्ति कर रहा है। इस बहिरात्मा जीवने जो कुछ गड़बड़ भी काम किया उसमें भी सहयोग तो मूल आधार तो इस निजस्वरूपका ही है। इस चित्स्वभाव महामणिका उपयोग इस बहिरात्मा जीवने विषयकषाय जैसे असार गन्दी वृत्तियोंमें किया। जैसे किसी भील भिलनीको जंगलमें कोई गजमोती, मणि मिल जाय तो उसका उपयोग अपरिचय होनेपर

कारण पैरोंके घिसनेमें किया जाता है, उन्हें पता ही नहीं है कि यह कोई मूल्यवान् पदार्थ है। उस मूल्यवान् मणिका उपयोग पैरोंके घिसनेमें कर रहे हैं वे और लकड़ी बेचकर बड़ी मुश्किलसे सूखा रूखा अधपेट ही खाकर अपना जीवन गुजारते रहते हैं। ऐसे ही अपने आपके स्वरूपमें बसी हुई जो चित्स्वभाव महामणि है, चिन्तामणि, उसका उपयोग यह जीव विषयकषायोंके गंदे उपयोगोंमें कर रहा है और खुद परकी आशा करके भीख मांगकर दुःखी हो रहा है। जैसे किसी लकड़हारेको कोई मणि मिल जाय और यों ही समुद्रके तटपर बैठे हुए कौवोंको मारनेके ख्यालसे उस मणिको जोरसे फेंकता है और वह समुद्रमें गिर जाती है। ऐसे ही यह चित्स्वभाव महामणि इस जीवके समीप है पर बहिर्मुख बनकर बाह्यपदार्थों की ओर दृष्टि देकर इन बाह्य पदार्थोंमें यह उपयोग फैंक रहा है और बाह्य पदार्थोंका लक्ष्य करके उपयोग फैंका जो कि मिथ्यारसमें डूब जाता है।

परमार्थदर्शन-- इस बहिर्मुख जीवने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी भावना नहीं भायी है। कोई निकटभव्य जीव अपने आपमें भेदभावनाके अभ्याससे पायी हुई झलकके कारण सम्यक्त्व प्रकट करता है। तब यह जीव रत्नत्रयकी भावनासे सज्जित होकर मोक्षमार्गमें, शांतिमार्गमें दिन दूना बढ़ता है। अपने आपके सहजस्वरूपका दर्शन ही एक बड़ा प्रभाव ला देता है।

अन्तस्तत्त्वके दर्शनमें समस्यावोंका समाधान— जगतकी मायामय वस्तुवोंकी समस्त समस्याओंका समाधान एक ही क्षणके निज अंतस्तत्त्व की झलकसे हो जाता है। कितनी समस्याएँ पड़ी हुई हैं, कितनी उलझनें हैं, कितना काम पड़ा है जिसके कारण कोई तो यह भी कह देते हैं कि हमको जरा भी फुरसत नहीं है पर फुरसत किसके लिए नहीं है? धर्म करनेके लिए, ज्ञानार्जनके लिए प्रभुभक्तिके लिए। तृष्णापापके लिए तो २४ घंटे फुरसत है। इस आत्मतत्त्वकी एक क्षण भी झलक हो तो ये सारी समस्याएँ, ये सारी विडम्बनाएँ, आपत्तियां, अनेक दोस्तियां अनेक वायदे कर लेनेसे उनकी ओर किए जाने वाले, यत्नके विकल्पमें हुई विडम्बनाएँ, जिनमें ऐसा भी महसूस कर लिया जाता है कि यह काम यदि न कर सके तो बहुत आपत्ति है, फिर रहना न रहना बेकारसा है, ऐसी-ऐसी कठिन समस्याएँ भी एक अंतस्तत्त्वकी झलकसे शान्त होती हैं। काम पड़े हैं सौ करनेके लिए, उन सौ कामोंका बड़ा बोझ सिर पर लदा है पर जहां अपने आपके आकिञ्चन्य स्वरूपको निरखा, ज्ञानमात्र अपने आपकी झलक पायी और उसमें सहजपरम आनन्दका अनुभव किया उसमें ये सब समाधान

हो जाते हैं। मेरे को कहीं कुछ करनेको है नहीं। ये सब न किये जायें, न हो ऐसा, जैसा कि अभी कुछ मिनट पहिले सोच रक्खा था, न हो न सही, मेरा कुछ काम अटका नहीं है और फिर मेरे सोचने से इन बाह्य पदार्थोंमें कुछ परिवर्तन भी नहीं हो पाता है। होता है तो होता है। हमारे विचारनेसे वहां क्या होगा ? ऐसी अतस्तत्त्वकी झलक पा जाने से प्राक् पदवीमें भी ज्ञानी पुरुषको बड़ी शान्ति है।

विपदामें भी धैर्यके कारणका एक दृष्टान्त— एक मुसाफिर था दूसरे गांवको जा रहा था। उसे एक जंगलके निकट शाम हो गयी, लेकिन फिर भी थोड़ा चलता रहा तो पगडंडियां कई होनेके कारण रास्ता भूल गया और एक जंगलमें फंस गया। कोई मार्ग ही न दीखे। अब वह सोचता है कि अब हम जितना आगे बढ़ेंगे उतना ही खोटे मार्गमें बढ़ जायेंगे। न जाने कितना और उलझ जायेंगे ? अंत भी कुछ न मिल पायेगा इस कारण इसही जगह अपने दिलको मजबूत करके ठहर जाव। जब कोई आपत्ति सामने आती है तो धैर्य बन जाता है। जब तक आपत्ति सिर नहीं आती है तो आपत्तिके ख्यालमें यह अधीर हो जाता है। थोड़ा कुछ बुखार आनेके लक्षणसे दीख रहे हों, आया नहीं है, पर लग रहा हो कि अब तो मैं बुखारसे घिर जाऊँगा, जितनी अधीरता, जितनी कमजोरी, जितना भय उस समय होता है, १०३ डिग्री बुखार चढ़ गया, जाड़ा लग रहा है, कह रहा है रजाई लावो, उस समय इतनी अधीरता नहीं है जितनी कि बुखार आनेके पूर्व समयमें थी। अब तो जान रहा है कि इस से आगे अब क्या होगा ? हो तो गया। अब उस मुसाफिरने सोचा कि अब जंगलमें मैं फंस गया। अब क्या है ? सो वह तो धीर बना व वहीं ठहर गया। अब उसके चित्तमें शंका ऐसी जरूर है कि मुझे मार्ग मिलेगा या न मिलेगा, या ऐसे ही जगलमें पड़े पड़े जानवरोंके द्वारा खाया जाऊँगा, क्या होगा ? शंका तो है, पर उसी समयमें बिजली चमकी। उस चमकसे बहुत दूर नकका स्थल दीख गया। और यह भी दीख गया कि एक छोटासा रास्ता यहांसे निकलता है और वह सड़क दीख रही है, उस सड़कसे यह रास्ता मिल गया है, इतना दिख गया। अब फिर वही अधेरा है, उसी जंगलमें पड़ा है, मगर उसके चित्तके मित्र बनाकर उसके चित्तकी फोटो लो जरा, क्या अब वह आकुलता है जो पहिले थी ? वह तो प्रतीक्षा मे है कि बीतने दो रात, चार घंटेका ही तो समय रह गया है रात्रिका। वह रास्ता है, यों जाना है और उस सड़कपर यों पहुंच जायेंगे, उसे धैर्य है, उसके मनमें विनिश्चय निर्णय है, आशंका नहीं है।

हो जाते हैं। मेरे को कहीं कुछ करनेको है नहीं। ये सब न किये जायें, न हो ऐसा, जैसा कि अभी कुछ मिनट पहिले सोच रक्खा था, न हो न सही, मेरा कुछ काम अटका नहीं है और फिर मेरे सोचने से इन बाह्य पदार्थोमें कुछ परिवर्तन भी नहीं हो पाता है। होता है तो होता है। हमारे विचारनेसे वहां क्या होगा ? ऐसी अतस्तत्त्वकी झलक पा जाने से प्राक् पदवीमें भी ज्ञानी पुरुषको बड़ी शान्ति है।

विपदामें भी धैर्यके कारणका एक दृष्टान्त— एक मुसाफिर था दूसरे गांवको जा रहा था। उसे एक जंगलके निकट शाम हो गयी, लेकिन फिर भी थोड़ा चलता रहा तो पगडंडियां कई होनेके कारण रास्ता भूल गया और एक जंगलमें फंस गया। कोई मार्ग ही न दीखे। अब वह सोचता है कि अब हम जितना आगे बढ़ेंगे उतना ही खोटे मार्गमें बढ़ जायेंगे। न जाने कितना और उलझ जायेंगे ? अंत भी कुछ न मिल पायेगा इस कारण इसही जगह अपने दिलको मजबूत करके ठहर जावें। जब कोई आपत्ति सामने आती है तो धैर्य बन जाता है। जब तक आपत्ति सिर नहीं आती है तो आपत्तिके ख्यालमें यह अधीर हो जाता है। थोड़ा कुछ बुखार आनेके लक्षणसे दीख रहे हों, आया नहीं है, पर लग रहा हो कि अब तो मैं बुखारसे घिर जाऊँगा, जितनी अधीरता, जितनी कमजोरी, जितना भय उस समय होता है, १०२ डिग्री बुखार चढ़ गया, जाड़ा लग रहा है, कह रहा है रजाई लावो, उस समय इतनी अधीरता नहीं है जितनी कि बुखार आनेके पूर्व समयमें थी। अब तो जान रहा है कि इस से आगे अब क्या होगा ? हो तो गया। अब उस मुसाफिरने सोचा कि अब जंगलमें मैं फंस गया। अब क्या है ? सो वह तो धीर बना व वहीं ठहर गया। अब उसके चित्तमें शंका ऐसी जरूर है कि मुझे मार्ग मिलेगा या न मिलेगा, या ऐसे ही जगलमें पड़े पड़े जानवरोंके द्वारा खाया जाऊँगा, क्या होगा ? शंका तो है, पर उसी समयमें बिजली चमकी। उस चमकसे बहुत दूर नकका स्थल दीख गया। और यह भी दीख गया कि एक छोटासा रास्ता यहांसे निकलता है और वह सड़क दीख रही है, उस सड़कसे यह रास्ता मिल गया है, इतना दिख गया। अब फिर वही अंधेरा है, उसी जंगलमें पड़ा है, मगर उसके चित्तके मित्र बनाकर उसके चित्तकी फोटो लो जरा, क्या अब वह आकुलता है जो पहिले थी ? वह तो प्रतीक्षा मे है कि बीतने दो रात, चार घंटेका ही तो समय रह गया है रात्रिका। वह रास्ता है, यों जाना है और उस सड़कपर यों पहुंच जायेंगे, उसे धैर्य है, उसके मनमें विनिश्चय निर्णय है, आशंका नहीं है।

ज्ञानीका धैर्य और आत्मोपलब्धिपथ— भैया! ऐसी ही वृत्ति असंयत, सम्यग्दृष्टिकी स्थितिकी है। यह अविरत ज्ञानी मार्ग पर नहीं चल रहा, पर मार्गका पूरा पता हो गया, उसे कहते है अविरत सम्यग्दृष्टि। अब हुआ सदसद्विवेकका सवेरा और अणुव्रतोंकी पगडंडियोंपर चलने लगा तो यह हुई देशविरतकी स्थिति। अभी निर्वाध उत्सर्गमार्गपर, आम सड़क पर नहीं पहुंचा। अभी पगडडियोंसे ही चल रहा है, आसपास छोटी मोटी स्नेहसाधनोंकी झाड़ियां भी हैं, उनमे उपयोगरूपी वस्त्र भी फंस रहा है, जिसे छुटाता भी जाता है बच-बचकर चल रहा है, यह है देशविरत सम्यग्दृष्टिकी स्थिति और जब उत्सर्गमार्गपर, मैदानी सड़क पर पहुंच गया, साफ सुथरी सड़कपर पहुंच गया तो वह आ गयी महाव्रती सम्यग्दृष्टिकी स्थिति। निर्ग्रन्थ अवस्थामें अब क्या चिंता है? एक ही उद्देश्य है। आत्माके उपासनाकी, सम्यग्ज्ञानके भावनाकी। निर्वाध इस ज्ञानपथसे अब चला जा रहा है। यों यह मोक्षमार्गमें भावना हुई है और यत्न हुआ है। ऐसा जीव ही यह विचार सकता है कि मैंने कितना अनन्त काल मिथ्या आशयोंमें, मिथ्याभावनाओंमें गँवाया?

पूर्व अभावित भावनाओंकी भावनाका ध्येय भवका अभाव-- ज्ञानीसंत यह भावना भा रहा है कि इस संसारके चक्रमें घूमते हुए मैंने जो पहिले कभी भावना भायी नहीं है उन अभावित भावनावोंको भवोंके अभावके लिए मैं भाता हूं। संसारभ्रमणका अभाव संसारभ्रमणके कारणभूत भावनावोंके विरुद्ध भावनावोंके भानेसे होता है। मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग--ये भाव संसारभ्रमणके कारण हैं। संसारभ्रमणका अभाव करनेके लिए सम्यक्त्वकी भावना, संयमकी भावना, निष्कषाय वृत्ति की भावना और निश्चेष्ट रहनेकी भावना भायी जाती है। जैसा बनना है वैसा अपनेको जरा भी निरखे नहीं, उस ओरकी भावना ही न करे तो बन कैसे सकता है?

सम्यक् संयत निष्कषाय निश्चेष्टस्वरूपकी भावनाकी आवश्यकता--- हमें निरखना है सम्यक्स्वरूप, समीचीन स्वरूप। यदि समीचीन स्वरूपका हम दर्शन ही न करें, विश्वास ही न रक्खें तो सही स्वरूपकी प्रकटता कैसे हो सकती है? हमें होना है पूर्ण अंतःसंयमरूप, क्योंकि अविरतके परिणामसे संसारका भ्रमण ही चलता रहता है। उन अव्रत परिणामोंसे दूर होना अत्यन्त आवश्यक है। अविरत परिणामसे जहां सर्वथा दूर हो जाया करता है वहां अंतःसंयमकी परिस्थिति हो जाती है। अपने आपमें अंतःसंयमकी जो स्थिति है, स्वरूप है उसकी भावना भाये बिना यह

अंतःसंयम नहीं हो सकता है। हमें होना है निष्कषाय क्रोध, मान, माया लोभसे रहित। तो निष्कषायका जो स्वरूप है, ज्ञायकस्वभाव है उसका दर्शन विश्वास हुए बिना निष्कषायकी वृत्ति जग कैसे सकती है? हमें होना है निःस्पन्द, निश्चल, निश्चेष्ट क्योंकि सकम्प रहनेमें, चेष्टावान् रहने में कोई आत्मकल्याण नहीं है, क्षोभ ही है। जब तक अपने आपको निश्चेष्ट ज्ञानमात्र स्वरूपमें न निहारें प्रतीति न करें तो यह स्थिति हमारी कैसी बन सकती है? अतः भवोंके अभावके लिए, संसारके सारे संकट समाप्त करनेके लिए सम्यक्त्व आदिक भाव भाना सर्व प्रथम आवश्यक है।

संसारभ्रमण— इस जीवने अब तक संसारचक्रमें चलते हुए राग-द्वेषकी कीली पर स्वक्षेत्रमें वहींके वहीं रहते हुए इस भावसंसारमें व पर-क्षेत्रमें ३४३ घन राजू प्रमाण इस लोक क्षेत्रमें भ्रमण ही किया। यहां बाह्य क्षेत्रके भ्रमणसे तो कोई हानि न थी। हानि तो भावसंसारके जो चक्र लगे हैं उनसे होती है, पर यह बात अवश्य है कि भावसंसारका भ्रमण न रहे तो यह द्रव्य, क्षेत्रका भ्रमण हो नहीं सकता, पर इन दोनों प्रकारके भ्रमणों में आकुलताका कारणभूत भाव भ्रमण ही है।

भोग और भोगियोंका स्नेह स्वपरकी बरबादीका कारण— इस जीवने पंचेन्द्रियके विषयोंमें, मनके विषयोंमें सुख माना है और इस कारण इन इन्द्रियविषयोंमें दौड़ दौड़कर भागता है। मनका विषय भी इतना तीव्र बना लिया है कि सारे विश्वपर एकछत्र तक राज्य करनेका इसके चाव हो जाता है, और इतना ही नहीं, स्वयं भी संसारगर्तमें गिरनेका काम कर रहा है तथा दूसरों को भी इसी संसारगर्तमें गिरानेका यत्न कर रहा है, उन्हें उपदेश दे रहा है ऐसे भोग भोगो। जिन पर इस संसारी जीवका प्यार होता है वह उन्हें बरबाद करके रहता है। जैसे क्रूर जानवरों का स्नेह बरबादी का कारण है अथवा सिंहका अनशन किसी जीव वधका ही कारण है, दुष्टोंका प्रेम अथवा बेवकूफोंका प्रेम किसीको आपत्तिमें फंसानेका ही कारण है, ऐसे ही इस मोही पुरुषका प्यार जिसपर भी पहुंचे स्त्री पर पुत्रपर तो वह प्यार उन्हें बरबाद करनेका ही कारण होता है, क्योंकि प्यारमें क्या करेगा यह? इस जीवका मोह और अज्ञानके कारण जिन विषयोंमें सुख जंचा है उन विषयोंका ही उपदेश देगा, उनमें लगाने का ही यत्न करेगा। यों खुद भी डूबा और दूसरे जीवोंको भी डुबाया। यह स्थिति रहती है इस मोही जीवकी।

अन्तःप्रवेश बिना घोर उपद्रव— अहो असार भोगोंमें लीन रहनेका

काम इसने एक भवमें ही नहीं किया किन्तु अनादि कालसे यहां यह करता चला आ रहा है। अनन्तकाल व्यतीत हो गया, इसने भोगविषयोंकी कथाएँ अनन्त बार सुनीं, अनन्त बार अनुभूत कीं, परन्तु खेदकी बात है जो अति सुगम स्वाधीन आनन्दरूप ज्ञानभाव है उस ज्ञानभावकी ओर इसने दृष्टि नहीं की। जैसे जमुना नदीमें तैरने वाले कछुवे जो कि बाहर मुँह निकाले रहते हैं वे पक्षियोंके उपद्रवसे दुःखी होते हैं। पक्षी उस कछुवे की चोंचको चोंटना चाहते हैं और यह बेवकूफ कछुवा ऊपर ही मुँह उठाये यहां का वहां बचना चाहता तो वह कितना मूर्ख है कि उन १०, २०, ५० पक्षियोंके उपद्रवसे दूर होनेका उसके पास सुगम स्वाधीन सामान्य श्रमरहित उपाय है और उसे नहीं कर पाता है, यह उपाय यही है कि थोड़ा चार अंगुल भीतर डूब जाय। जो बाहरमें चोंच निकाल रक्खी थी उस चोंचको उस जलके अन्दर ही कर लेवे, सारे पक्षी वहांसे भाग जायेंगे, उपद्रवसे वह कछुवा बच जायेगा। ऐसे ही यह मोही प्राणी अपने स्वरूप से, अपने क्षेत्रसे बाहर परपदार्थोंकी ओर उपयोग होनेसे और उन्हींकी ओर दूसरोंका भी उपयोग होनेसे दुःखी हैं। संसारकी यह पौद्गलिक सम्पदा जितनी है उतनी ही है। उसके चाहने वाले अनगिनते लोग हैं तब वहां विवाद कलह झगड़ा होगा ही। हर एक कोई उसे समेटना चाहता है, इसीसे उपद्रुत है और दुखी है। उन सर्वसंकटोंके मिटनेका यही उपाय है कि अपनी ओर प्रवेश कर ले।

बिना मूलकी बातोंके स्वप्नके संकट— अच्छा, पौद्गलिक सम्पदा की बात जाने दो। इस सारे विश्वका मैं नेता बन जाऊँ, ऐसी चाह करने वाले भी तो अनगिनते लोग हैं, जीव हैं। अब बतावो यहां कुछ बात भी नहीं, फिर भी इतना बड़ा विवाद बन जाता है कि जितना सम्पदाके पीछे विवाद नहीं बनता है। झगड़ेका जितना फैलाव है, झगड़ेकी जितनी संख्या है उनमें ९५ प्रतिशत झगड़े केवल बातकी शानके हैं। पौद्गलिक सम्पदाओंके सम्बन्धमें झगड़े ५ प्रतिशत होते हैं। खूब ध्यानसे सोच लो, घरमें भी दिन भरमें अगर ५० बार झगड़ा हो जाता है तो वहां भी देख लो कि बातकी शानके झगड़ोंकी कितनी संख्या है और धन वैभव सम्पदाके पीछे होने वाले झगड़ोंकी कितनी संख्या है? उन सब संकटोंको नष्ट करने की जिस भावमें सामर्थ्य है, उस ज्ञानभावमें आस्था नहीं की। फिर बतावो यह सुपनका संकट कैसे मिटेगा?

स्वदयाका यत्न— यह ज्ञानभाव अत्यन्त सुगम स्वाधीन है। कहीं बाहर लेने को नहीं जाना है, किन्तु अंतरंगमें ही वह व्यक्त है, अंतःप्रकाश-

मान है, पर यह उपयोग कितने समूहके साथ एकमेक घुलमिला रंगीला बन गया है जिसके कारण अब इस उपयोगको अंतरंगमें विराजमान यह कारणसमयसार प्रभु नहीं दीख रहा है। इसे तो इस जीवने खुद जानने का यत्न नहीं किया और दूसरे जीव जो जानते हैं उन ज्ञानी संतोंका सत्संग भी नहीं किया। इसीसे इसे अपना यह ज्ञानमय एकत्व दृष्टिगत नहीं होता। इस ही में अपनी दया है, अपनी भलाई है कि इन सब मोह और अहंकारकी भावनावोंका परित्याग करें और सम्यक्त्वरूप, आकिञ्चन्यरूप शुद्ध तत्त्वकी भावना बनाएँ। इसही उपायसे यह परमार्थप्रतिक्रमण प्रकट होता है, जिस पुरुषार्थके बलसे भव-भवके बांधे हुए कर्म क्षणमात्रमें ध्वस्त हो जाते हैं।

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं ॥९१॥

रत्नत्रयके भावककी प्रतिक्रमणरूपता— अब फिर भी प्रतिक्रमणस्वरूप ज्ञानकी चर्चा प्रकट कर रहे हैं। जो भव्यपुरुष सर्वप्रकारसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रका त्याग करके सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको भाता है वह पुरुष स्वयं प्रतिक्रमणस्वरूप है। जिस किसी पुरुषके बारेमें प्रशंसा की जाती है तो यों भी कह देते हैं कि तुम्हें शांति देखनी है तो इसको देखिये यह है शांति। तुम्हें संतोष ढूँढ़ना है तो अमुक चंदको देखिये यह है संतोष जीता जागता। शुद्धभाव और भाववानमें अभेद करके भी बात कही जाती है और तथ्य भी यही है कि भाव और भाववान कोई अलग पदार्थ नहीं है। जिस जीवने इन मिथ्यात्रयोंका त्याग किया है और रत्नत्रयकी भावना की है वह पुरुष स्वतः ऐसा निर्दोष गुणपुञ्ज हो जाता है कि यह ही साक्षात् प्रतिक्रमणस्वरूप है।

मिथ्यात्रयका त्याग व रत्नत्रयका लाभ— मिथ्यादर्शन ज्ञानचारित्र और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका स्वीकार एक होता है, सर्वथा मिथ्यात्वका त्याग हो गया इसका अर्थ है कि सम्यक्त्वका लाभ हो गया। सर्वथा मिथ्याज्ञानका परिहार हो गया इसका अर्थ है कि सम्यग्ज्ञानका विकास हो गया। सर्वथा मिथ्या आचरणका परिहार हो गया उसका अर्थ है कि सम्यक्चारित्रका अभ्युदय हो गया। जैसे अंधेरा और प्रकाश दोनों एक जगह नहीं रह सकते हैं। परस्पर विरुद्ध चीजें हैं, ऐसे ही यह मिथ्यात्रय और रत्नत्रय एक आत्मामें एक समयमें नहीं रह सकता है। जिस मुमुक्षु जीवके रत्नत्रयकी स्वीकारता हो गयी है उसके वह निश्चयप्रतिक्रमण होता है।

मिथ्यात्रयका निर्देश— ये मिथ्यात्व आदिक क्या हैं ? कुछ इनके स्वरूपको देखिये। सम्यग्दर्शन कहलाता है मोक्षमार्गके अनुकूल पथका श्रद्धान होना, उसके विपरीत आशय होना यही है मिथ्यादर्शन। इसमें होता है मोक्षमार्गके प्रतिकूल अमार्गका अथवा मार्गाभासका श्रद्धान। अरहंत सर्वज्ञदेव जिस मार्गसे चलकर बने हैं वह मार्ग है सहज सिद्ध स्वतःसिद्ध कारणसमयसारस्वरूप आत्मतत्त्वका श्रद्धान, परिज्ञान और इस ही रूप ज्ञाताद्रष्टा बने रहनेरूप सम्यक्चारित्रकी एकता। इस मुक्ति-मार्गके विरुद्ध संसारका मार्ग है। वह क्या है ? उस सहज अंतःस्वभावके विपरीत अन्य-अन्य परभावोंका आत्मरूपसे विश्वास होना और ऐसा ही परिज्ञान होना और ऐसे ही बाह्य पदार्थोंमें विषय-कषायोंमें लीन होना।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वमें प्रतीतिविरोध-- यह मिथ्यात्रय सम्यक् रत्नत्रयसे बिलकुल विरुद्ध भाव है। यह मैं आत्मा समस्त परपदार्थोंसे न्यारा हूं, ऐसी श्रद्धा है सम्यग्दर्शनमें तो मिथ्यादर्शनमें यह श्रद्धा है कि ये दृश्यमान् पदार्थ ये परिजन ये ही मेरे प्राण हैं, ये ही मेरे स्वरूप हैं, ऐसी मिथ्या श्रद्धा है मिथ्यात्वमें। सम्यग्दर्शनमें विशुद्ध वस्तुस्वरूपकी श्रद्धा है तो मिथ्यादर्शनमें वस्तुस्वरूपकी विपरीत श्रद्धा है। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा सम्यक्त्वमें प्रतीत होता है। मिथ्यात्वमें इस असमानजातीय पर्यायको निरखकर मैं सांवला हूं, गोरा हूं, बड़ा हूं, लम्बा हूं, धनवान् हूं, अमुक पोजीशनका हूं इत्यादि विपरीत धारणाएँ होती हैं, सम्यक्त्वके प्रकाशमें अपनी शाश्वतता नजर आती है। मैं अनादि अनन्त एक स्वरूप हूं। कर्म लेप वश चाहे यहांसे वहां कहीं भी भागना पड़े तिस पर भी यह मैं चेतन शाश्वत हूं। यह न पैदा होता है और न मरता है। तो मिथ्यादर्शनमें यह विश्वास बना होता है लो अब यह मैं मर गया, अब मैं यह जन्म गया। मिथ्या प्रतीतियोंमें आकुलता और क्षोभ ही होता है, वहां शांति प्रकट नहीं हो सकती।

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानमें जाननकी पद्धतियां-- सम्यग्ज्ञानके विस्तारमें यथार्थविकासबुद्धि होती है। जो जैसा पदार्थ है, जिसस्वरूपमें है उस स्वरूपमें ही परिज्ञान रहना सो सम्यग्ज्ञान है, किन्तु मिथ्याज्ञानमें अवस्तुमें वस्तुबुद्धि होती है और वस्तुका तो कुछ परिचय ही नहीं है। जैसे बालक लोग बरषते हुए पानीमें उठते हुए बबूले को देखकर जलमयता की तो दृष्टि भी नहीं रखते, किन्तु यह बबूला ही सब कुछ है ऐसा सोचते है। यों ही यह मोही बालक इन दृश्यमान् पदार्थोंमें परमार्थभूत द्रव्यका कुछ ईक्षण भी नहीं करता है, किन्तु इसी दृश्यरूपको ही वास्तविक मानता

मान् है, पर यह उपयोग कितने समूहके साथ एकमेक घुलमिला रंगीला बन गया है जिसके कारण अब इस उपयोगको अंतरंगमें विराजमान यह कारणसमयसार प्रभु नहीं दीख रहा है। इसे तो इस जीवने खुद जानने का यत्न नहीं किया और दूसरे जीव जो जानते है उन ज्ञानी संतोंका सत्संग भी नहीं किया। इसीसे इसे अपना यह ज्ञानमय एकत्व दृष्टिगत नहीं होता। इस ही में अपनी दया है, अपनी भलाई है कि इन सब मोह और अहंकारकी भावनावोंका परित्याग करें और सम्यक्त्वरूप, आकिञ्चन्यरूप शुद्ध तत्त्वकी भावना बनाएँ। इन्हीं उपायसे यह परमार्थप्रतिक्रमण प्रकट होता है, जिस पुरुषार्थके बलसे भव-भवके बांधे हुए कर्म क्षणमात्रमें ध्वस्त हो जाते है।

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिखसेसेण।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं ॥९१॥

रत्नत्रयके भावककी प्रतिक्रमणरूपता— अब फिर भी प्रतिक्रमण स्वरूप ज्ञानकी चर्चा प्रकट कर रहे हैं। जो भव्यपुरुष सर्वप्रकारसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रका त्याग करके सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको भाता है वह पुरुष स्वयं प्रतिक्रमणस्वरूप है। जिस किसी पुरुषके बारेमें प्रशंसा की जाती है तो यों भी कह देते हैं कि तुम्हें शांति देखनी है तो इसको देखिये यह है शांति। तुम्हें संतोष ढूँढ़ना है तो अमुक चंदको देखिये यह है संतोष जीता जागता। शुद्धभाव और भाववानमें अभेद करके भी बात कही जाती है और तथ्य भी यही है कि भाव और भाववान् कोई अलग पदार्थ नहीं है। जिस जीवने इन मिथ्यात्रयोंका त्याग किया है और रत्नत्रयकी भावना की है वह पुरुष स्वतः ऐसा निर्दोष गुणपुञ्ज हो जाता है कि यह ही साक्षात् प्रतिक्रमणस्वरूप है।

मिथ्यात्रयका त्याग व रत्नत्रयका लाभ— मिथ्यादर्शन ज्ञानचारित्र का त्याग और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका स्वीकार एक साथ होता है, सर्वथा मिथ्यात्वका त्याग हो गया इसका अर्थ है कि सम्यक्त्वका लाभ हो गया। सर्वथा मिथ्याज्ञानका परिहार हो गया इसका अर्थ है कि सम्यग्ज्ञानका विकास हो गया। सर्वथा मिथ्या आचरणका परिहार हो गया उसका अर्थ है कि सम्यक्चारित्रका अभ्युदय हो गया। जैसे अंधेरा और प्रकाश दोनों एक जगह नहीं रह सकते हैं। परस्पर विरुद्ध चीजें हैं, ऐसे ही यह मिथ्यात्रय और रत्नत्रय एक आत्मामें एक समयमें नहीं रह है। जिस मुमुक्षु जीवके रत्नत्रयकी स्वीकारता हो गयी है उसके ..चयप्रतिक्रमण होता है।

मिथ्यात्रयका निर्देश— ये मिथ्यात्व आदिक क्या हैं ? कुछ इनके स्वरूपको देखिये। सम्यग्दर्शन कहलाता है मोक्षमार्गके अनुकूल पथका श्रद्धान होना, उसके विपरीत आशय होना यही है मिथ्यादर्शन। इसमें होता है मोक्षमार्गके प्रतिकूल अमार्गका अथवा मार्गाभासका श्रद्धान। अरहंत सर्वज्ञदेव जिस मार्गसे चलकर बने हैं वह मार्ग है सहज सिद्ध स्वतःसिद्ध कारणसमयसारस्वरूप आत्मतत्त्वका श्रद्धान, परिज्ञान और इस ही रूप ज्ञाताद्रष्टा बने रहनेरूप सम्यक्चारित्रकी एकता। इस मुक्ति-मार्गके विरुद्ध संसारका मार्ग है। वह क्या है ? उस सहज अंतःस्वभाव के विपरीत अन्य-अन्य परभावोंका आत्मरूपमें विश्वास होना और ऐसा ही परिज्ञान होना और ऐसे ही बाह्य पदार्थोंमें विषय-कषायोंमें लीन होना।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वमें प्रतीतिविरोध-- यह मिथ्यात्रय सम्यक् रत्नत्रयसे बिलकुल विरुद्ध भाव है। यह मैं आत्मा समस्त परपदार्थोंसे न्यारा हूं, ऐसी श्रद्धा है सम्यग्दर्शनमें तो मिथ्यादर्शनमें यह श्रद्धा है कि ये दृश्यमान् पदार्थ ये परिजन ये ही मेरे प्राण हैं, ये ही मेरे स्वरूप हैं, ऐसी मिथ्या श्रद्धा है मिथ्यात्वमें। सम्यग्दर्शनमें विशुद्ध वस्तुस्वरूपकी श्रद्धा है तो मिथ्यादर्शनमें वस्तुस्वरूपकी विपरीत श्रद्धा है। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा सम्यक्त्वमें प्रतीत होता है। मिथ्यात्वमें इस असमानजातीय पर्यायको निरखकर मैं सांवला हूं, गोरा हूं, बड़ा हूं, लम्बा हूं, धनवान् हूं, अमुक पोजीशनका हूं इत्यादि विपरीत धारणाएँ होती हैं, सम्यक्त्वके प्रकाशमें अपनी शाश्वतता नजर आती है। मैं अनादि अनन्त एक स्वरूप हूं। कर्म लेप वश चाहे यहांसे वहां कहीं भी भागना पड़े तिस पर भी यह मैं चेतन शाश्वत हूं। यह न पैदा होता है और न मरता है। तो मिथ्यादर्शनमें यह विश्वास बना होता है लो अब यह मैं मर गया, अब मैं यह जन्म गया। मिथ्या प्रतीतियोंमें आकुलता और क्षोभ ही होता है, वहां शांति प्रकट नहीं हो सकती।

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानमें जाननकी पद्धतियां-- सम्यग्ज्ञानके विस्तारमें यथार्थविकासबुद्धि होती है। जो जैसा पदार्थ है, जिसस्वरूपमें है उस स्वरूपमें ही परिज्ञान रहना सो सम्यग्ज्ञान है, किन्तु मिथ्याज्ञानमें अवस्तुमें वस्तुबुद्धि होती है और वस्तुका तो कुछ परिचय ही नहीं है। जैसे बालक लोग बरषते हुए पानीमें उठते हुए बबूले को देखकर जलमयता को तो दृष्टि भी नहीं रखते, किन्तु यह बबूला ही सब कुछ है ऐसा सोचते हैं। यों ही यह मोही बालक इन दृश्यमान् पदार्थोंमें परमार्थभूत द्रव्यका कुछ ईक्षण भी नहीं करता है, किन्तु इसी दृश्यरूपको ही वास्तविक मानता

है। सम्यग्ज्ञानका प्रकाश हो तब ही शान्तिका पथ प्राप्त हो सकता है।

मिथ्याचारित्र और सम्यक्चारित्रमें अनुभवनभेद— भगवान अरहंत परमेश्वर सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रणीत हुए सन्मार्गके विरुद्ध जो संसारमें रुलाने वाला मार्ग है उस मार्गपर लगना सो मिथ्याचारित्र है। मिथ्याचारित्रमें इस जीवको निरन्तर आकुलता बनी रहती है। यह जीव चाहे विषयोंकी प्राप्ति करले और उनके भोगनेके समय भी यद्यपि यह मोही मौज मानले, किन्तु उसके भीतर निरन्तर आकुलता वर्त रही है। भोगोंके सुखोंको भोगनेकी आकुलता न हो तो उन सुखोंके भोगनेकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। भोगोंके भोगनेकी प्रवृत्ति आकुलताके ही कारण होती है, किन्तु सम्यक्चारित्रमें निरन्तर अनाकुलताका अनुभव होता है।

सम्यक् चारित्र व मिथ्याचारित्रके पथभेदका मूल स्थान-- सम्यक्चारित्र और मिथ्याचारित्रमें मूलमें थोड़ा ही अन्तर है विधिका. या यों कह लीजिए कि मानो प्रदेशमात्रका अन्तर है अर्थात् सम्यक्चारित्रमें तो है निजमें प्रवेश और निजसे रंच भी बाहर उपयोग रमा तो वह है मिथ्याचारित्रकी दौड़, पर इस अंतः और बाह्यका इतना मूलका अन्तर शांति और अशान्तिके महान् विस्तारभावको प्रकट कर देती है।

धर्मप्रवेशके लिये मिथ्यात्रयके परिहारकी प्रथम आवश्यकता— आत्मस्वरूपसे विमुख होकर अनात्मतत्त्वमें आत्मतत्त्वका दर्शन करना, अनात्मतत्त्वमें आत्मतत्त्वका बोध रखना और अनात्मतत्त्वमें रमण करना, संतोप करना यह है मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र। इन तीनोंका जो सर्वथा परित्याग करता है उसके ही परमार्थप्रतिक्रमण हो सकता है। परमार्थप्रतिक्रमणमें दोषोंकी निवृत्ति है। दोषोंसे लिपटकर दोषोंसे निवृत्ति कैसे हो सकती है, इसलिए परमार्थ शुद्धिके लिए मिथ्यात्रयके परिहारकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। जैसे धर्मके मार्गमें, धर्मके दरबारमें कोई प्रवेश करना चाहे तो उससे यह कहा जायेगा कि पहिले तुम मिथ्यात्वका परिहार कर आवो। सबसे पहिली शर्त है यह, तब इस धर्मके मार्गमें प्रवेश कर सकते हो।

मिथ्यात्रयका स्वरूप— इस मिथ्यात्रयका अध्यात्मपद्धतिसे भी स्वरूप निरखो। निज आत्मतत्त्वका श्रद्धान होना और उसका परिज्ञान होना और इस निज आत्मतत्त्वमें ही इसका अनुष्ठान होना, यह तो है इसका स्वरूप भाव। इसके विमुख होना अर्थात् स्वात्मतत्त्वका श्रद्धान नहीं है, व अनात्मतत्त्वमें आत्मरूपसे श्रद्धान् है, निज आत्मतत्त्वका परिज्ञान नहीं है, किन्तु इस दृश्यमान् मायामय बाह्य पदार्थोंको स्कंधोंको निरख निरखकर

ये ही सब कुछ हैं और अपने से निमित्तनैमित्तिकरूपसे विपर्याभावसे सम्बन्धित देहादिक पदार्थोंमें यह मैं हूं यह मेरा है, इस प्रकारका परिज्ञान होना और आत्मतत्त्वमें तो अनुष्ठान न होना किन्तु अनात्मतत्त्वमें इस की बुद्धि जाय, उपयोग लगे तो यह सब है मिथ्यात्रय। ऐसा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रात्मक विभाव परिस्थितिका त्याग करके ही परमार्थप्रतिक्रमणकी प्राप्ति की जा सकती है।

परमार्थप्रतिक्रमणके अधिकारीका आश्रयभूत त्रिकालनिरावरण अन्तस्तत्त्व — परमार्थप्रतिक्रमणका अधिकारी निश्चयरत्नत्रयात्मक आत्मा ही है। निश्चयरत्नत्रयका विषय शुद्ध कारणपरमात्मतत्त्व होता है। यह कारणपरमात्मतत्त्व त्रिकाल निरावरण है। निज सत्त्वके कारण जो स्वरूप बना हुआ है उस स्वरूप पर आवरण कभी नहीं होता। निमित्त नैमित्तिकयोगके फंदमें स्वरूपका शुद्ध विकास नहीं हुआ यह तो होता है, परन्तु स्वरूपका आवरण कभी नहीं होता है। सहज सत्त्वके कारण जो सहजस्वरूप है वह तो सदा ही है, उस पर आवरण नहीं होता। यह कारणसमयसार त्रिकाल निरावरण है और यह कारणसमयसार ही आनन्दस्वरूप है। जिसका जो स्वभाव है वह कभी मिट नहीं सकता। चाहे वह ढक जाय, उसका शुद्धविकास न हो, किन्तु स्वभाव कभी बदल नहीं सकता है। यह जीव अनादिकालसे द्रव्यकर्मके आवरणसे आवृत है और उसके उदयका निमित्त पाकर भावकर्मके आवरणसे साक्षात् आवृत्त है। इतने पर भी इस जीवका जो ज्ञानानन्दस्वरूप है, स्वभाव है वह स्वभाव न हटा। चाहे यः कितने ही काल बाद शुद्धविकासको प्राप्त हो, वह शुद्धविकास इस स्वरूपमें से ही तो प्रकट होगा। स्वरूप किसी भी परिस्थितिमें परिवर्तित नहीं होता है।

निश्चय रत्नत्रय— आत्माका स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। ज्ञानानन्दस्वरूप निरञ्जन निज पारिणामिक भावरूप जो कारणसमयसार है वह ही परमार्थ आत्मा है। उस आत्माके स्वरूपका श्रद्धान हो, ज्ञान हो और ऐसी ही जानने देखनेकी स्थिति निरन्तर बनायी जाय, यह है शुद्ध रत्नत्रय। ऐसा निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो परम तपस्वी महंत संत हैं वह ही परमार्थप्रतिक्रमण स्वरूप हैं।

निकटभव्यकी अभिलापा— यह भव्य इस परमार्थ निजतत्त्वके स्वरूपरूप शुद्ध आनन्दका अभिलाषी है। जिसे शुद्ध आनन्द चाहिए उसे अपनी अभिलाषाका निर्णय कर लेना चाहिए कि मैं किसरूप हूं? ये जगत् के बाह्य पदार्थ जो मायामय हैं, भिन्न है, जिनका कुछ विश्वास भी नहीं

हैं, ये कब तक साथ रह सकते हैं और जब तक साथ भी रहते हैं तब तक आकुलता और बरबादीका ही निमित्तरूपसे सहयोग दे रहे हैं। ऐसे इन भिन्न असार भोगोंके सुखकी अभिलाषा एक बड़ा धोखा है। हुए हैं आज मनुष्य, मिला है पुण्यका उदय, भोग सकते हैं नाना तरहसे विषयभोग, किन्तु यदि इस सामर्थ्यका ऐसा दुरुपयोग किया कि भोगोंमें ही समय लगाया तो यह आत्मपदार्थका और संसार क्लेशका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चलता रहेगा।

विषयान्धकी स्थिति-- जो भोगविषयोंमें रहकर अपना ज्ञानबल नष्ट कर देगा वह पुरुष कैसी दुर्गतिका पात्र होगा, ऐसा कुछ तो आंखों ही निरख लो। कितनी तरहके जीव जंतु इस संसारमें भरे हुए हैं? वनस्पतियों का कोई ठिकाना नहीं है, ये अनगिनते प्रकारके हैं। अन्य स्थावर दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदिक कीड़े मकौड़े वगैरह ये सब ऐसी दुर्गतिके स्थान हैं, ऐसी ही दुर्गति अपनी स्वच्छन्दताके फलमें हो जायेगी तब फिर कहां शान रहेगी? यहां तो कल्पित शानके पीछे मरे जा रहे हैं और इस कल्पित शानके अंधेरेमें अपने अंतरंगकी शान नहीं रखी जा रही है। भोगोंसे अरुचि होना और मायामय विभूतियोंकी प्रीतिसे दूर होना, इन सब उपायोंसे इस ज्ञानकी रक्षा करना चाहिए, तभी आत्माकी वास्तविक शान रहेगी।

मोहनिद्राके स्वप्नकी चांदनी-- भैया! यहां तो यह दो दिनकी चांदनी है, स्वप्न है। इस स्वप्नमें कुछ भी बन जावो पर यह सदा टिक नहीं सकता। जैसे किसी घसियारेको स्वप्नमें राज्यपद मिल जाय, थका हुआ था उसे बड़ी गहरी नींद आयी, कुछ समय बाद उसे स्वप्न आ जाय कि मैं राजा बन गया हूं, लो बहुतसे राजा लोग मुझे नमस्कार कर रहे हैं, मैं लोगोंपर हुकूमत कर रहा हूं, ऐसा कुछ स्वप्न आये तो बतावो वहां वह यथार्थ आनन्द ले रहा है या कल्पित सुखमें ही मौज मान रहा है? थोड़ी ही देर बाद नींद खुल जाय तो वहां क्या था? न कुछ पहिले था, न अब कुछ रहा। पहिले भी वह केवल कल्पनामात्र थी, अब वह कल्पना मिट गयी, वह नींद मिट गयी। कहां रहा वह सब कुछ? वह तो कल्पित बात थी। इसी प्रकार कुछ धन वैभव मिला, कुछ इज्जत मिली, कुछ राज्य, शान चला, प्रतिष्ठा मिली तो यह सब मोहकी कल्पना है। मोहनिद्राके स्वप्न हैं। यह टिक नहीं सकता, रह नहीं सकता। कुछ चीज हो मौलिक तो कुछ ठीक है, पर वहां तो कल्पनाके विचार ही रहते हैं।

मायामय शानकी असारता-- भैया! इन इन्द्रियविषयोंमें, इन

मनकी दौड़ोंमें जो इतना भागे जा रहे हैं, ये कल्पनाएँ, विषयसुख इनकी अभिलाषा करना व्यर्थ है। निजस्वरूपके अनुभवसे उत्पन्न हुआ जो सहज आह्लाद है, निराकुलता है, उस निराकुलताकी अभिलाषा बना लेना यह एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ होगा। जो संग आपको विषयभोगोंमें प्रेरित करता हो, जो संग इन मायामय पदार्थोंके संचय करानेमें प्रेरित करता हो, जो संग यहांकी छोटी इज्जत पोजीशनके बनानेमें प्रेरित करता हो, वह संग तो आपकी बरबादीके लिए है। उससे अपना भला न समझिये। लौकिक शान भी अपने पास वास्तविक शान हो तो शोभास्पद बनती है। जैसे आजकलके जमानेमें गणराज्यके वोटों द्वारा शान मिलने वाले खोटे समय में भीख मांगकर शान बनाएँ तो इसमें कौन सी शान रही? शान तो वह है कि जहां प्रजाजन हाथ जोड़कर आयें और कहें कि आप हमारा मार्गदर्शन कीजिए, हम लोग दुःखी हैं। अपना शुद्ध ज्ञानप्रकाश हो, तब समझो कि वह शान है। ऐसी शान उस पुरुषके ही हो सकती है जो इस मायामय शानसे अपनी शान मानता हो और अपने आध्यात्मिक शानको प्रगतिशील बनाए हो उसके ही वास्तविक लौकिक शान रह सकती है।

अभिलाषाके विषयनिर्णयकी आवश्यकता— भैया! पहिले तो अभिलाषाके विषयका निर्णय करलो। तुम्हें किसकी तो अभिलाषा करना है और किसकी अभिलाषा नहीं करना है? यद्यपि हम आपकी वर्तमान परिस्थितियां ऐसी हैं कि जिनमें अनेक पदार्थोंका संचय भी करना पडेगा, करना पड़ता है और लौकिक यश भी रखना पड़ता है, इस पर भी ज्ञान है, विवेक है तो श्रद्धा तो इस ओर ही होना चाहिए कि अभिलाषा करने के योग्य तत्त्व है कुछ, तो वह है आत्माका सहज परम आनन्दस्वभाव। जो पुरुष निज परमतत्त्वके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए परमसहज आनन्दका ही अभिलाषी है वही पुरुष परमपुरुषार्थी है। आत्माका परम पुरुषार्थ है अपने आपको ज्ञानस्वरूपमें निहारना और अपने आपको ज्ञानस्वरूपमात्र अनुभव करना और ऐसा ही अनुभव निरन्तर बनाए रहना, ऐसे परम पुरुषार्थमें वही पुरुष उद्यमी हो सकता है जिसने कि अपनी अभिलाषाके यथार्थ विषयका परिपूर्ण निर्णय कर लिया हो। ऐसा परमपुरुषार्थी पुरुष ही निश्चयरत्नत्रयादिक आत्माकी भावना करता है।

तपस्यासे दोषीकी निर्दोषताकी सिद्धि— जो संत निश्चयरत्नत्रयात्मक आत्माकी भावना करता है वही परम तपस्वी है। तपस्या किसे करना है? जो दोषी हो उसे तपस्या करना है ताकि तपके प्रसादसे उन दोषोंकी निवृत्ति हो जाय। यह शरीर तो दोषी है नहीं। हमें विपत्तियोंमें

लगाने वाला तो है नहीं । फिर इस शरीरको ही दण्ड देते रहने से तपस्या कैसे सम्भव होगी ?

अज्ञानीकी तपस्यामें आशय— शरीरकी तपस्या, ये धूप, ठंढ, गरमी, अनशन आदि कराना कई परिस्थितियोंमें हुआ करता है । जैसे एक तो अज्ञान दशामें होता है । मुझे मोक्ष जाना है, मुझे धर्म करना है अथवा मुझे लोग समझें कि यह साधुसंत हैं इससे अपना आचरण बिल्कुल शुद्ध बनाना है अथवा अपने आपमें ऐसी धुन बन जाय कि मैं साधु हूं, मुझे तो ऐसी अनेक तपस्याएँ करना ही चाहिए, इन सब अज्ञानके आशयों से भी देहकी तपस्या करायी जाती है । तपाना तो था इस सदोष आत्मा को किन्तु इसकी दृष्टि न होकर इस अज्ञानीने तपा दिया है इस देहको । देहका तपश्चरण ज्ञानी पुरुष भी करते हैं, पर ज्ञानी पुरुष जिस विवेकसे जिस पद्धतिसे तपश्चरण किया करता है, उन मर्मोंका तो परिचय है नहीं और बाहरी बातें निरखकर हो यह अज्ञानी देहका तपश्चरण कराने लगे, इससे तो सिद्धि न होगी ।

ज्ञानीके मर्मसे अपरिचित अज्ञानी द्वारा किये गये नकलमें विडम्बना का एक दृष्टान्त — एक बार किसी ऊँटने कुम्हड़ा खाया । पूरा कुम्हड़ा मुँह में डाल लिया तो वह गलेमें अटक गया । अब वह ऊँट बहुत तड़फे । एक समझदार वैद्यराज निकले । उनके साथ एक बेवकूफ चपरासी भी था । ऊँट वाले ने वैद्यराजसे प्रार्थना की कि महाराज मेरा ऊँट बहुत बीमार है इसे ठीक कर दीजिए । वैद्यने उसे ऊपर नीचे देखा और परखकर कहा— हम तुम्हारा ऊँट अच्छा कर देंगे । लावो एक बड़ा पत्थर और एक कुछ छोटा पत्थर दो । पत्थर लाये गए । ऊँटके गलेके नीचे एक पत्थर रक्खा और दूसरे पत्थरसे उस जगह जहां कि कुम्हड़ा था, कूट दिया । कुम्हड़ा फूट गया और ऊँट उसे निगल गया । अच्छा हो गया । अब वह चपरासी सोचता है कि मैं व्यर्थमें छोटी नौकरी करता हूं । पैसा कमानेका यह तो बढ़िया उपाय है, सो वह नौकरी छोड़कर स्वतंत्र वैद्यराज बन गया । अब वह देहातोंमें निकल गया, कहता है कि हम बड़े नामी वैद्यराज हैं, हर एक रोगकी हम पेटेन्ट चिकित्सा करते हैं । एक गरीब पुरुषके घरमें एक अधबुढ़िया बीमार थी, घरवालोंने उस वैद्यराजको बुलाकर कहा कि हमारी मां बीमार है उनका इलाज कर दीजिए । तो वैद्य जी ने झट दो पत्थर मंगाये, एक पत्थर बुढ़ियाके गलेके नीचे रक्खा और दूसरे पत्थरसे चोट लगा दिया तो वह बुढ़िया मर गयी । तो समझदारकी वृत्तिकी नकल अज्ञानी करे तो क्या कार्यसिद्धि हो जायेगी ?

तत्त्वमर्मसे अपरिचित अज्ञानीके तपश्चरणसे कार्यकी असिद्धि-- ज्ञानी संत पुरुष किसी पद्धतिसे देहका भी तपश्चरण किया करते हैं, इस बातका मर्म तो विदित न हो और ऊपरी ही वृत्ति देख कर अज्ञानी देहका तपश्चरण करे तो क्या उससे कार्यसिद्धि होगी ? नहीं होगी। तपश्चरण के अनेक कारण है। प्रथम कारण तो यह अज्ञानियोंका बताया है। अब ज्ञानियोंका कारण भी समझिये कि ज्ञानी पुरुष किस परिणामको रखकर देहका तपश्चरण किया करते है ?

ज्ञानीके तपश्चरणका उद्देश्य-- ज्ञानी जीवकी तपस्याका उद्देश्य क्या है ? इसे सुनिये- एक तो यह है कि चूंकि विषयकषायोंमें चैन माननेका साधन इस देहका आराम है। इस कारण विषय-कषायोंमें प्रवृत्ति न हो सके, इस निर्दोषताके लिये वह ज्ञानी देहका तपश्चरण करता है। दूसरा कारण यह है कि आराम सहित याने विना श्रम कष्टके प्राप्त किया हुआ ज्ञान किसी दुःखके आनेपर नष्ट हो सकता है। इस कारण उस पुरुष के ज्ञानकी निधिकी सुरक्षाके लिए देहका तपश्चरण करना उन्होंने आवश्यक समझा है ताकि यह सामर्थ्य बनी रहे कि दुःख और उपसर्गके होते हुए भी अपने पाये हुए ज्ञानका विनाश न हो सके। तीसरा कारण यह है कि देहके तपश्चरणकी परिस्थितिमें ऐसी सहज वृत्ति बनती है कि कषाय भावोंका विस्तार न होकर एक अध्यात्ममार्गमें उसकी प्रगति होती है। इस आत्मकल्याणकी साधनाका उद्देश्य रखकर ज्ञानी जीव देहका तपश्चरण करता है।

ज्ञानीके पुरुपार्थका फल-- समस्त विभावोंको छोड़कर तथा व्यवहार रत्नत्रयमार्गके साधनसे निश्चयरत्नत्रयके साधनकी योग्यता पानेपर व्यवहाररत्नत्रय को भी छोड़कर निज अंतस्तत्त्वके ज्ञानी आत्मतत्त्वका अनुभवन करने वाले पुरुष ऐसे निज ज्ञानके श्रद्धान और निजके आचरणको प्राप्त करते है जो निज शुद्ध आत्मतत्त्वमे शाश्वत नियत है। परमार्थज्ञाता पुरुष इस आत्मामें सदा काल नियत जो ज्ञायकस्वरूप है उस ज्ञायकस्वरूपका श्रद्धान् कि इतना ही मात्र मैं हूं, ऐसी दृढ़ प्रतीति और इस स्वरूपका ज्ञान और इस आत्मस्वरूपमें रमना, ऐसे रत्नत्रयकी एकताको प्राप्त करते हैं।

उत्तम अट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुनिवरा कम्मं।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तम अट्ठस्स पडिकमणं ॥९२॥

उत्तमार्थ प्रतिक्रमण-- उत्तम पदार्थ आत्मा है। उस आत्मामें अवस्थित रहने वाले मुनीश्वर कर्मोंका विघात करते हैं इस कारण ध्यान ही

वास्तवमें इस उत्तमार्थका प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमणोंमें अंतिम प्रतिक्रमण उत्तमार्थप्रतिक्रमण कहा गया है। उत्तमार्थप्रतिक्रमणका व्यवहारमार्गमें तो यह अर्थ है कि साधक पुरुष अपने जीवनभरके दोषोंकी शुद्धि, गुणोंके विकासकी प्रगति करते हुए जब अंतिम देहत्यागकी अवस्थामें हो तो उस समय सारे जीवनके किए हुए दोषोंकी शुद्धि करना और अपने आपको शुद्ध सन्मार्गमें ले जाना सो उत्तमार्थप्रतिक्रमण है। यहां उत्तमार्थप्रतिक्रमण का अर्थ आवीचिमरणमें उत्तमार्थप्रतिक्रमण किया जाना चाहिए, इस दृष्टि को रखकर किया गया है। यह आत्मा प्रति क्षण अपनी आयुको गँवा रहा है। आयुके क्षयका ही नाम मरण है। यह जीव प्रतिसमय आयुके निषेकों का क्षय कर रहा है, इस कारण एक जीवनमें ही प्रति समय मरण हो रहा है। इस मरणका नाम है आवीचिमरण। आवीचिमरणमें इस उत्तमार्थ आत्माका कर्तव्य है कि वह उत्तमार्थप्रतिक्रमण करे।

उत्तमार्थका उत्तमार्थप्रतिक्रमण— लोकमें समस्त द्रव्योंकी जातियां ६ हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन समस्त द्रव्यों में एक जीवद्रव्य ही सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है। यद्यपि स्वरूपदृष्टिसे सभी द्रव्य अपने आपमें अपनी महत्ता रखते हैं, किन्तु इन सब द्रव्योंकी व्यवस्था करने वाले अर्थात् जानने वाले और इसके सत्त्वको प्रसिद्ध करने वाले जीवपदार्थ ही हैं। इस कारण जीवपदार्थ सर्वपदार्थोंमें श्रेष्ठ है। ऐसे इस उत्तम अर्थ, श्रेष्ठ पदार्थ, जीवको क्या करना चाहिए प्रतिसमय? उसका इसमें समाधान है। उत्तमार्थ जीवको उत्तमार्थप्रतिक्रमण करना चाहिए। उत्तमार्थप्रतिक्रमणका अर्थ है उत्कृष्टोंमें जो तम है, उत्कृष्ट है उसके अर्थ दोषशुद्धि करना चाहिए। उत्तमार्थ है जीव द्रव्य। उसका अर्थ है उत्कृष्ट और उसमें भी तम है, उत्कृष्ट है अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानानन्द स्वरूप यह अंतस्तत्त्व। उस अंतस्तत्त्वके अर्थ अर्थात् उस अंतस्तत्त्व की प्राप्ति व अनुभूतिके लिए जो विभाव भावोंसे निवृत्त निर्दोष आत्मतत्त्व का ध्यान किया जाता है वही उत्तमार्थप्रतिक्रमण है। इस गाथामें निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमणका स्वरूप कहा गया है।

भागवत उत्तमार्थ प्रतिक्रमण— व्यवहारमार्गमें, मरणकालमें जिनेश्वर मार्गके अनुसार अर्थात् सर्वज्ञभगवानने जो मार्ग बताया है उसके अनुसार सल्लेखना धारण करनेको उत्तमार्थप्रतिक्रमण कहते हैं। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके मार्गमें मुनीश्वरोंको सल्लेखनाकी विधि बतायी गयी है उसी तरह सल्लेखना करते हुएके समयमें अधिकसे अधिक ४८ मुनि उत्तमार्थप्रतिक्रमण कराते हैं, योग्य मुनीश्वर जब सल्लेखना धारण करते हैं

तो चूँकि सल्लेखनाका काम बहुत उत्कृष्ट है, भविष्यका लाभ अलाभ सब मरण समय पर निर्भर रहता है, अतः उस समय सर्वमुख्य कार्य उस एक मुनि महाराजका शुद्ध विधिसहित सल्लेखनामरण कराना है। सल्लेखना का कार्य इतना प्रधान है कि उनकी सेवामें लगे हुए मुनिजन सेवाके समक्ष सामायिक कालको भी नहीं गिनते हैं। सामायिक छोड़कर भी समाधि-मरण करने वाले की सेवाकी आवश्यकता हो तो उस सेवाको करना उस समय वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

मुनिराजकी सल्लेखनाके समयमें परिचारक मुनि क्या करते हैं? चार मुनि तो दो-दो करके अदला बदलीसे संन्यासमरण करने वाले साधुसंतके पास वस्तिकाशुद्धि, उपकरणशुद्धि, मल मूत्र कराना आदि सेवा करनेके लिए बने रहते हैं। चार मुनीश्वर वसतिकाके द्वारकी रक्षा करते हैं ताकि कोई असंयत पुरुष अहंकारी शिक्षक उनके पास न जाए। चार मुनीश्वर धर्मोपदेश मण्डपके द्वार पर रहते हैं। चार मुनीश्वर उस महाक्षेत्रके अन्तिम द्वारों पर रहते हैं। ये मुनीश्वर जिस क्षेत्रमें संन्यासमरण किया जा रहा है उस क्षेत्रके बाहर मुख्य स्थानों पर जैसे कि जो द्वारकी तरह हों वहां बने रहते हैं। जो बड़ी शान्तिसे आने वाले लोगोंको धर्मसाधनाकी देशना करते हैं और उन्हें संतुष्ट कर देते हैं। कोई लौकिक जन उस संन्यासमरण करने वाले साधुके समीप दर्शनको भी न पहुंचे ऐसी व्यवस्थाएं वे रखते हैं। आजकल तो प्रायः संन्यासमरण करने वाले के दर्शनके लिए एक व्यवस्था भी बनाते हैं कि इस तरहसे उन्हें नंबरवार दर्शन करना चाहिए, पर वे मुनीश्वर दर्शनको बाधा समझते हैं। कोई भी पुरुष दर्शन करने आयेगा और इस साधुको; संन्यासमरणमें रहने वाले को इतना भी ज्ञात हो गया कि कोई आया है इतनासा उपयोग के आनेमें वहां तो उन्हें संन्यासमें बाधा आ जायेगी।

संन्यासमरणमें गृहस्थोंके लिये सावधानीका सन्देश— भैया! गृहस्थोंमें भी कोई पुरुष मर रहा है तो उसके कुटुम्बियोंका यह कर्तव्य है कि उस मरणहार व्यक्तिके पास अपना दुःख सुख रोने न जायें। उन कुटुम्बियोंके देखते ही उस मरणहारका उपयोग बदल सकता है और मोह ममता आ सकती है, किन्तु कहां होता है ऐसा? वह मरता जाता है और ये घरके लोग लिपट-लिपट कर रोते जाते हैं। भला जिसने अपने जीवन भर नाना श्रम करके परिवारजनोंकी इतनी सेवा सुश्रूषा की है, पालन पोषण किया है अब वे इसे ५ मिनट भी विश्राम नहीं लेने देते, आध्यात्मिक आराम नहीं लेने देते। यहां भी यह कर्तव्य है कि मरणसमयमें

किसी मोही व्यक्तिको, परिजनको, इष्ट मित्रको पहुंचना न चाहिए। हां जो धर्मात्माजन हैं, जिनके धर्म, ज्ञान, वैराग्यकी परिणति चल रही है ऐसे पुरुष रहें साथमें और वे उसे सावधान कराते रहें।

सल्लेखनामें योग्य परिचारककी आवश्यकता— मरण समयमें संन्यास धारण करने वाले पुरुषके लिए सेवक इतने योग्य चाहियें कि जो साधनाकी प्रत्येक बात समझ सकें। उस समय उस साधुके प्रति न तो कठोर व्यवहार होना चाहिए तथा न अति कोमल व्यवहार होना चाहिए। कुछ उन्हें समझाया भी जाय तो वे सेवक इस बातके जानकार हों कि कितने जोरसे बोलना चाहिए और कब बोलना चाहिए? साधुका तो ध्यान आत्मचिंतनमें लग रहा है और उसे आप कोई बिनती सुनाने लगे तो आपने तो उसमें बड़ी बाधा डाल दी। कोई योग्य पुरुष संन्यासमरण धारण करने वालेके पास होना चाहिए, इस बात का भी ध्यान करके योग्य सेवकको उनके समीप छोड़ा जाता है।

वे चार मुनीश्वर जो महाक्षेत्रके बाहर याने बहुत दूर दूर पर इस लिए बैठे होते हैं कि कोई वादविवादकी इच्छासे अहंकारमें आकर उस साधुके पास जाना चाहे तो वहीं बात करके उनकी शंकावोंका समाधान करते हैं और घमंडियोंका घमंड दूर देते हैं। चार मुनीश्वर संन्याससाधक मुनिराजकी शरीरकी सब प्रकारकी सेवाके लिये निर्यापकाचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और भी अनेक मुनियोंको निर्यापकाचार्य नियुक्त करते हैं, जो निम्नप्रकारसे विविध सेवा करते हैं। चार मुनीश्वर शुभ अशुभ वार्तावोंका निरीक्षण करते हैं ताकि शुभ वार्तावोंकी सल्लेखना साधकके हितमें रक्षा की जा सके और अशुभ वार्तावोंसे सावधानी रखी जा सके। चार मुनीश्वर साधक मुनिको धर्मोपदेश सुनाते रहते है जिससे साधक सल्लेखनामें सावधान रहे। चार मुनीश्वर वसतिकाके बाहर स्थित होकर धर्मोपदेश करते हैं वे धर्मकथावों का प्रायोजनिक वस्तुस्वरूपका विवरण करके धर्ममय वातावरण रखते हैं। चार मुनीश्वर धर्मोपदेशकी कथा करने वालोंकी रक्षाके लिये इधर उधर भ्रमण करते हैं। ऐसे परिचर्यामें समर्थ मुनीश्वर इस प्रकारकी परिचर्या करते हैं। इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार आहार पानकी प्रकल्पनाके लिये व रक्षाके लिये भी कुछ मुनीश्वर होते हैं। ऐसे कितनी ही प्रकारसे संन्यासमरणमें स्थित साधुकी सेवा की जाती है। ऐसे अनेक मुनि चाहियें एक संन्यासमरण करने वाले साधुका उत्तमार्थप्रतिक्रमण करानेके लिए। न हों इतने मुनि तो जितने हं उतने से ही काम बनाया जा सकता है, पर दो से कममें यह काम नहीं

बनाया जा सकता है। ऐसे उत्तमार्थप्रतिक्रमणकी विधिसे देहका त्याग कराना यही व्यवहारसे धर्म है। संन्याससमरण है, उत्तमार्थप्रतिक्रमण है।

निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण— अब निश्चयसे उत्तमार्थप्रतिक्रमण क्या है? इसे भी जानो। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष--इन ९ तत्त्वोंमें उत्तमार्थ अथवा समस्त द्रव्योंमें उत्तमार्थ है आत्मा। उस आत्मामें भी उत्तम है शाश्वत ज्ञानानन्दस्वभाव। उस ज्ञानानन्द स्वभावमय कारणसमयसारके स्वरूपमें उपयोग द्वारा जो ठहरते हैं ऐसे तपस्वीजन आवीचिमरणको नजरे अन्दाज रखकर संसारसे विमुख और आत्मतत्त्वके सन्मुख रहते हैं, सो उनकी जो सहज अन्तस्तत्त्वकी उपयोगमयी उपासना है वह निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण है।

आवीचिमरणके चिन्तनमें धर्मसाधनका उत्साह— ज्ञानीका यह ख्याल है कि मरण प्रतिसमय हो रहा है। जो समय गया वह समय करोड़ों रुपये भी खर्च करें, करोड़ों किसीसे मिन्नतें करे तो बीता हुआ समय वापिस नहीं आ सकता है। इस ही युक्तिसे समयकी कीमत समझ लीजिए। उम्र बढ़-बढ़ कर आज इतनी बड़ी हुई है और अब अनेक वृद्धावस्थाके सम्मुख हो रहे हैं और अनेक वृद्ध भी हो गए हैं। उनके पास अटूट धन सम्पदा हो और अटूट चतुराई हो, धर्मविषयक ज्ञान भी हो और कदाचित् वह चाहें कि ये १० साल मेरे कुछ धोखेमें निकल गये, सो ये न निकले की तरह हो जायें, हम फिर १० वर्ष छोटे बन जायें। अरे एक सेकण्ड भी छोटे नहीं हो सकते। तब समझ लीजिए कि अब जो हमारी जिन्दगीमें बचा हुआ समय है उसकी कितनी कीमत है? हम बचे हुए समयका ही ठीक सदुपयोग करलें तो हमने बहुत कुछ किया, और तो कुछ किया ही क्या जा सकता है, अन्यथा जैसे प्रमादमें, असावधानीमें हमारा इतना समय गुजर गया है ऐसे ही शेष समय भी गुजर जायेगा।

मायामय जगत्में आशाकी अकरणीयता— भैया! यह जगत मायामय है। यहां किससे क्या चाहते हो? तुम्हें क्या मिल सकता है किसी दूसरेसे? जीव पंचेन्द्रियके विषयभोगोंमें और मनके विषय साधनों में रहना चाहता है, पर ये छहोंके छहों विषय नितांत असार हैं। किसी चीजको छूकर कुछ मौज मान लिया तो आत्मामें कौनसी वृद्धि हो गयी, उल्टा आत्मबल घटा, पाप बंध हुआ, बहिर्मुखता हो गयी। रसीला स्वादिष्ट भोजन कर लिया और उसमें मौज मान लिया, अपने ब्रह्मस्वरूप की भी याद भुला दिया तो बतावो उसमें कौनसा आत्मलाभ पा लिया. कर्म बंध ही किया। यों ही घ्राण, चक्षु, श्रोत्रके जो विषय हैं, रूप देखना,

अच्छा राग सुनना, रागभरी बातें सुनना इन बातोंमें भी अपनी प्रवृत्ति की तो इससे कौनसा आत्मलाभ पा लिया, प्रत्युत कर्म बन्धन किया। अपना संस्कार खोटा बनाया। मनके विषय की तो कहानी ही क्या कहें, इस जीव-जगत्‌में भरे हुए मलिन अज्ञानी खोटे विचार वाले, मद्य मांस खाने पीने वाले, इस मनुष्य समाजमें अपना नाम रखनेके लिए बड़ी तरकीबें लड़ाते हैं। इस दुष्प्रयत्नसे कौनसा आत्मलाभ होगा? ये मुनिराज [illegible] में निरन्तर सावधान हैं इसलिए आत्मोपयोगका उद्यम ही करते हैं, कर्म-विनाशको ही करते हैं, इसी कारण इनके निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण होता है। ऐसा यह निश्चयउत्तमार्थप्रतिक्रमण उत्तमार्थ शाश्वत अंतस्तत्त्वके अभेद ध्यानमें परिसमाप्त होता है।

निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमणकी परिस्थिति— निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण निश्चय परमशुक्लध्यानका नाम है जिस ध्यानमें ध्यान ध्येयका भेद नहीं है, केवल ज्ञानप्रकाशका अनुभवन है, सर्वप्रकारसे जो अपने अंतःस्वरूपकी ओर ही सन्मुख है, जैसे तरंग रहित समुद्र अपने आपमें समाया हुआ होने से शांत है, इसही प्रकार राग द्वेष रहित यह उपयोग अपने आपमें समाया हुआ शान्त है, ऐसा जो सर्वप्रकारसे अन्तर्मुखाकार है, किन्हीं भी इन्द्रियोंके विषयभूत नहीं है, यहां तक भी कि जहां मनका भी काम रुद्ध हो गया है, जहां उपयोग द्वारा उपयोगमय आत्मतत्त्वका ही अनुभवन है ऐसी उत्कृष्ट अभेद स्थितिको निश्चय परम शुक्लध्यान कहते हैं। यह ही निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण है।

निश्चयप्रतिक्रमणकी अमृतकुम्भरूपता— यह निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण अमृत कुम्भस्वरूप है, क्योंकि अमृतका भण्डार परम आनन्द की निधि निज आत्माके आश्रयसे यह निश्चय शुक्लध्यान प्रकट होता है। यह आत्मा परम धर्मस्वरूप है इसही कारण यह उत्तमार्थप्रतिक्रमण अमृतकुम्भस्वरूप है। यद्यपि नाना व्यवहारमें लगे पुरुषोंसे चूँकि अनेक दोष लगते रहते हैं इस व्यवहारी पुरुषकी प्रवृत्ति अधिकरूपमें भी विषयोंके दोषोंमें पहुंच जाती है उसका निराकरण करनेके लिए व्यवहारप्रतिक्रमण भी आवश्यक है अर्थात् गुरुवोंसे दोष निवेदन करके उनके दिये गये प्रायश्चित्तका पालन करना और प्रतिक्रमणके साथी जो अन्य भाव हैं उनकी भावना वृत्ति करना, ये सब व्यवहारप्रतिक्रमण आवश्यक हैं, किये जाना चाहिये, किन्तु ये व्यवहारप्रतिक्रमण व्यवहार धर्मरूप हैं इनसे और ऊपर उठकर अथवा यों कहो अपने अंतरंग की गहराईमें पहुंचकर जब निश्चय आत्मधर्मस्वरूपका परिचय होता है, व्यवहारधर्मसे भी उत्कृष्ट

आगे बढ़कर जब ज्ञायकस्वरूप निश्चय आत्मधर्ममें प्रवेश होता है उस समय यह व्यवहारप्रतिक्रमण विषकुम्भ कहलाता है और निश्चयप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ कहलाता है। यहां अमृततत्त्व और विषत्त्वका प्रयोजन अपेक्षिक है, उत्कृष्टतामें तो निरपेक्ष अमृतकुम्भ निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण ही है।

प्रतिक्रमणके सहयोगी भावोंमें प्रतिसरणभाव— इस प्रतिक्रमण भावके साथी अन्य भाव भी हैं। जिनका ध्येय प्रतिक्रमणकी भांति निर्दोपना व गुणविकास होना है। जैसे प्रतिसरण अर्थात् सम्यक्त्व आदिक गुणोंमें वृद्धि करना, प्रतिक्रमणका ध्येय है कि दोषोंसे निवृत्त होकर निर्दोष गुणस्वरूप अपने आपको बनना। यह उद्देश्य सिद्ध होनेमें जिन-जिन भावोंकी सहायता होती हो वे वे सब भाव प्रतिक्रमणके साथी हैं। गुणोंकी दृष्टि करके उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए, वृद्धिके लिए अपनी अंतःप्रेरणा होना, उत्साह जगना, गुणविकाससे ही संतोष माननेकी वृत्ति होना ये सब हैं प्रतिसरण। दोषोंका निराकरण और गुणोंमें लगनेकी प्रेरणा होना ये दोनों सहभावी गुण भी हैं और इनका परस्परमें एक दूसरे भावके लिए सहयोग है। यह प्रतिसरण भी जब व्यवहार धर्मरूप होता है तो प्राक् पदवीमें, विषय कषायोंका सम्पर्क रह सकने वाले साधकोंमें यह व्यवहार प्रतिसरण अमृतकुम्भ है किन्तु व्यवहार धर्मके गुणोंकी प्रेरणासे ऊँचे उठकर जब अभेदपद्धतिसे निश्चयगुण ज्ञानस्वभावमें सहज प्रगति होती है तब उस निश्चयप्रतिसरणकी स्थितिमें व्यवहारप्रतिसरण विषकुम्भ होता है और यह निश्चयप्रतिसरण अमृतकुम्भ माना जाता है। विष कुम्भका भाव हेय लेना और अमृतकुम्भका भाव "उपादेय" लेना।

परिहारभाव— इस प्रतिक्रमणका साथी परिहार भाव है। मिथ्यात्व आदिक जो परिणाम हैं, रागद्वेष विरोध, शोक, रंज, रति आदिक जो परिणमन हैं उन परिणमनोंका परिहार करना सो परिहार नामक सद्भाव है। यह परिहार जब व्यवहारधर्मकी पद्धतिसे होता है तो वह प्राक् पदवियोंमें अमृतकुम्भ कहा जाता है, किन्तु निश्चय आत्मस्वभावके दृढ अभ्यासी और ज्ञायकस्वरूपकी ही रुचि और मान्यता रखने वाले महात्मा संतोंको यह व्यवहार परिहार विषकुम्भ हो जाता है, हेय हो जाता है और निश्चयपरिहार अर्थात् ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वके अतिरिक्त अन्य तरंग मात्र का भी परिहार होना, यह उपादेय हो जाता है।

धारणाभाव— प्रतिक्रमणका साथी है धारणा। किसी शिवस्वरूप ध्यानका आलम्बन करके चित्तको स्थिर बनाना सो धारणा है। यह धारणा

भी जब व्यवहारधर्मकी पद्धतिसे भेदवासना सहित जब पंचनमस्कार मंत्र अथवा प्रतिमा आदिक पदार्थोंके आश्रयसे चित्त स्थिर किया जाता है उस को कहते हैं व्यवहारधारणा। यह व्यवहारधारणा प्राक पदवियोंमें अमृतकुम्भ है किन्तु जब इससे और अंतरंगमें प्रवेश करके केवलज्ञान शुद्ध ज्ञानस्वरूप निश्चय धर्मका उपयोग द्वारा धारण होता है, जहां ज्ञान ज्ञान-स्वरूपको ही धारण किए रहता है ऐसे अभेद स्थितिरूप धर्मध्यानमें अथवा निश्चय शुक्लध्यानमें यह व्यवहारधारणा हेय हो जाती है और वह उपयोग द्वारा उपयोगमय आत्माको उपयोगमें धारण किए रहने रूप निश्चयधारणा उपादेय हो जाती है।

निवृत्तिभाव— प्रतिक्रमणका साथी भाव है निवृत्ति। बाहरी विषय साधनोंसे निवृत्ति होना, विषय कषाय आदिकके परिणामोंसे अलग हटना यह है निवृत्ति। यह निवृत्ति भी जब व्यवहारधर्मपद्धतिसे प्रकट होती है अर्थात् चरणानुयोगकी विधिसे आत्मकल्याणके बाधक बाह्य पदार्थोंका त्याग किया जाता है और साथ ही अपना सद्भाव बनानेके लिए विभावों से भी दूर होनेका यत्न किया जाता है तब यह व्यवहारनिवृत्ति प्राक्पदवी में अमृतकुम्भरूप है। यह किया ही जाना चाहिए। यह तो आत्मसिद्धिके मार्गमें बढ़नेके लिए प्रथम कदम है, किन्तु जैसे ही सूक्ष्म भी तरंगोंसे-रंगोंसे निवृत्तिकी स्थिति प्राप्त होती है ऐसी निश्चयनिवृत्तिके जो निश्चयधर्ममें वृत्ति कराता है ऐसी परम शुक्लध्यानरूप वृत्तिमें यह व्यवहारनिवृत्ति हेय हो जाती है और स्वभावके उपादानरूप निश्चयनिवृत्ति वहां उपादेय होती है।

आत्मनिन्दाभाव— ऐसे ही प्रतिक्रमणका साथी भाव है निन्दा। अपने आपसे अपने दोषोंको जाहिर करना, अपने दोष अपने आपको कहना, अपने दोषोंको जानकर उन दोषोंकी निन्दा करना, उनमें अरति करना यह है निन्दानामक सद्भाव। यह निन्दाभाव जब भेदसहित, विकल्पसहित जागृत होता है तब वह व्यवहाररूप निन्दाभाव है आत्म-निन्दा। यह प्राकपदवियोंमें नितान्त आवश्यक है और अमृतकुम्भ है किन्तु अपने आपमें अपने दोषोंकी निन्दा करने रूप विकल्प उत्पन्न करना यह निश्चय-पथ नहीं है। इस भेदभावनासे भी रहित होकर निन्दाका जो फल होना है निन्दा स्थानसे हटकर अनिन्द्य स्थानपर पहुंचना, ऐसी निश्चय वृत्ति जहां हो रही हो वह है निश्चयदृष्टिसे आत्मनिन्दा। इस स्थितिमें व्यवहाररूप निन्दाभाव हेय हो जाता है और विभावोंसे हटकर स्वभावमें प्रवेश करने रूप आत्मनिन्दा फलस्वरूप स्थितिमें यह निश्चय निन्दाभाव

उपादेय हो जाता है।

आत्मगर्हाभाव— इसी तरह एक उपाय है गर्हाका। अपने दोष अपने गुरुसे प्रकट करना यह गर्हा नामक सद्भाव है, गर्हासे दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है। अपने दोष अपने आचार्यसे, गुरुसे कहना उनके ही सम्भव है जिनको आत्महितकी धुन है, उसे जगत्के समस्त शानकी वृत्तियां अत्यन्त हेय मालूम होती हैं। जो जगतकी झूठी शानके लिए उत्सुक हैं वे अपने दोष अपने मुखसे नहीं कह सकते हैं। गुरुसे अपने दोष निवेदन करना यह है गर्हा। यह गर्हा मोक्षमार्गके अभिलाषी पुरुषको आवश्यक है और यह आत्मविशुद्धिमें साधक है, लेकिन इस गर्हारूप विकल्पमें अभी अभेद स्थिति नहीं आ पायी है। यह मैं दोषी हूं, मुझे दोष दूर करना है इसलिए गुरुमहाराजसे मुझे निवेदन करना चाहिए ऐसे विकल्प सहित जो निवृत्त होता है उससे अभी स्वभाव स्थिति नहीं हो सकी है। इस भावसे भी आगे बढ़कर आत्माका गुरु जो निज आत्मतत्त्व है उस आत्मतत्त्वके गुणोंको निरखना, जिस निरखनेके प्रसादसे अपने दोषोंसे उपेक्षा हो जाय और यह दोष सही मायनेमें अभेदरूपसे वचनजल्परहित इस अभेदस्वरूप आत्मतत्त्व आत्मगुरुमें लापता अभेदरूप निवेदित हो जाय अर्थात् आत्मदोष इस अंतस्तत्त्वमें विलीन हो जायें, ऐसे उत्तम गर्हाको निश्चय गर्हा कहते हैं। इस स्थितिमें व्यवहारगर्हा हेय हो जाती है और यह निश्चयरूप गर्हा उपादेय हो जाती है। यहां यह कहा जा रहा है कि दोषशुद्धिके प्रकरणमें जब यह आत्मा दोषमयी किनारेसे हटकर गुणमयी किनारेकी ओर आता है तो उसमें जब इसके अभेद ज्ञायकस्वरूपका अभेदोपयोगरूप उपाय बनता है तो यह निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण है। इसही को निश्चय परम शुक्ल ध्यान कहते हैं।

अप्रतिक्रमणरूप व प्रतिक्रमणरूप भूमियां— अब जरा यहां विचार कीजिए इस प्रसंगमें अभी दो शब्द आये हैं प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। इन दो शब्दोंमें तीन भूमियां आयीं। प्रथम भूमि तो विषयी, कषायवान् मोही पुरुषोंका अप्रतिक्रमणरूप है। प्रतिक्रमण कहते हैं दोषोंको दूर करने की कोशिश करना। यह विषय कषायोंमें ग्रस्त मोही पुरुष दोषोंको दूर करनेकी कहां कोशिश कर रहा है? दोषोंके दूर करनेका यत्न न होना इसका नाम है अप्रतिक्रमण। यह मोही प्राणी अप्रतिक्रमणकी पहिली भूमिमें पड़ा हुआ है। इससे जब ऊँचे उठता है तो प्रतिक्रमणकी भूमि आती है। द्वितीय कक्षामें जहां लगे हुए दोषोंका प्रतिक्रमण किया जाता है। तपस्या करना, आलोचना करना, गुरुसे दोष निवेदन करना, विषरी।

भी जब व्यवहारधर्मकी पद्धतिसे भेदभावना सहित इस पंचनमस्कार मंत्र अथवा प्रतिमा आदिक पदार्थोंके आश्रयसे चित्त स्थिर किया जाता है उस को कहते हैं व्यवहारधारणा। यह व्यवहारधारणा प्राक् पदवियोंमें अमृतकुम्भ है किन्तु जब इससे और अंतरंगमें प्रवेश करके केवलज्ञान शुद्ध ज्ञानस्वरूप निश्चय धर्मका उपयोग द्वारा धारणा होता है, जहां ज्ञान ज्ञान-स्वरूपको ही धारण किए रहता है ऐसे अभेद स्थितिरूप धर्मध्यान अथवा निश्चय शुक्लध्यानमें यह व्यवहारधारणा हेय हो जाती है और वह उपयोग द्वारा उपयोगमय आत्माको उपयोगमें धारण किए रहने रूप निश्चय धारणा उपादेय हो जाती है।

निवृत्तिभाव— प्रतिक्रमणका साथी भाव है निवृत्ति। बाहरी विषय साधनोंसे निवृत्ति होना, विषय कषाय आदिके परिणामोंसे हटना यह है निवृत्ति। यह निवृत्ति भी जब व्यवहारधर्मपद्धतिसे प्रकट होती है अर्थात् चरणानुयोगकी विधिसे आत्मकल्याणमें बाधक बाह्य पदार्थोंका त्याग किया जाता है और साथ ही अपना सद्भाव बनानेके लिए विभावों से भी दूर होनेका यत्न किया जाता है तब यह व्यवहारनिवृत्ति प्राक्पदवी में अमृतकुम्भरूप है। यह किया ही जाना चाहिए। यह तो आत्महितके मार्गमें बढ़नेके लिए प्रथम कदम है, किन्तु जैसे ही सूक्ष्म भी तरंगोंसे रंगोंसे निवृत्तिकी स्थिति प्राप्त होती है ऐसी निश्चयनिवृत्तिमें जो निश्चयधर्ममें वृत्ति कराता है ऐसी परम शुक्लध्यानरूप वृत्तिमें वह व्यवहारनिवृत्ति हेय हो जाती है और स्वभावके उपादानरूप निश्चयनिवृत्ति वहां उपादेय होती है।

आत्मनिन्दाभाव— ऐसे ही प्रतिक्रमणका साथी भाव है निन्दा। अपने आपसे अपने दोषोंको जाहिर करना, अपने दोष अपने आपको कहना, अपने दोषोंको जानकर उन दोषोंकी निन्दा करना, उनमें अरति करना यह है निन्दानामक सद्भाव। यह निन्दाभाव जब भेदसहित, विकल्पसहित जागृत होता है तब वह व्यवहाररूप निन्दाभाव है आत्म-निन्दा। यह प्राक्पदवियोंमें नितान्त आवश्यक है और अमृतकुम्भ है किन्तु अपने आपमें अपने दोषोंकी निन्दा करने रूप विकल्प उत्पन्न करना यह निश्चय-पथ नहीं है। इस भेदभावनासे भी रहित होकर निन्दाका जो फल होना है निन्द्य स्थानसे हटकर अनिन्द्य स्थानपर पहुंचना, ऐसी निश्चय वृत्ति जहां हो रही हो वह है निश्चयदृष्टिसे आत्मनिन्दा। इस स्थितिमें व्यवहाररूप निन्दाभाव हेय हो जाता है और विभावोंसे हटकर स्वभावमें प्रवेश करने रूप आत्मनिन्दा फलस्वरूप स्थितिमें यह निश्चय निन्दाभाव

उपादेय हो जाता है।

आत्मगर्हाभाव— इसी तरह एक उपाय है गर्हाका। अपने दोष अपने गुरुसे प्रकट करना यह गर्हा नामक सद्भाव है, गर्हासे दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है। अपने दोष अपने आचार्यसे, गुरुसे कहना उनके ही सम्भव है जिनको आत्महितकी धुन है, उसे जगत्के समस्त शानकी वृत्तियां अत्यन्त हेय मालूम होती हैं। जो जगतकी झूठी शानके लिए उत्सुक हैं वे अपने दोष अपने मुखसे नहीं कह सकते हैं। गुरुसे अपने दोष निवेदन करना यह है गर्हा। यह गर्हा मोक्षमार्गके अभिलाषी पुरुषको आवश्यक है और यह आत्मविशुद्धिमें साधक है, लेकिन इस गर्हारूप विकल्पमें अभी अभेद स्थिति नहीं आ पायी है। यह मैं दोषी हूं, मुझे दोष दूर करना है इसलिए गुरुमहाराजसे मुझे निवेदन करना चाहिए ऐसे विकल्प सहित जो निवृत्त होता है उससे अभी स्वभाव स्थिति नहीं हो सकी है। इस भावसे भी आगे बढ़कर आत्माका गुरु जो निज आत्मतत्त्व है उस आत्मतत्त्वके गुणोंको निरखना, जिस निरखनेके प्रसादसे अपने दोषोंसे उपेक्षा हो जाय और यह दोष सही मायनेमें अभेदरूपसे वचनजल्परहित इस अभेदस्वरूप आत्मतत्त्व आत्मगुरुमें लापता अभेदरूप निवेदित हो जाय अर्थात् आत्मदोष इस अंतस्तत्त्वमें विलीन हो जायें, ऐसे उत्तम गर्हाको निश्चय गर्हा कहते हैं। इस स्थितिमें व्यवहारगर्हा हेय हो जाती है और यह निश्चयरूप गर्हा उपादेय हो जाती है। यहां यह कहा जा रहा है कि दोषशुद्धिके प्रकरणमें जब यह आत्मा दोषमयी किनारेसे हटकर गुणमयी किनारेकी ओर आता है तो उसमें जब इसके अभेद ज्ञायकस्वरूपका अभेदोपयोगरूप उपाय बनता है तो यह निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण है। इसही को निश्चय परम शुक्ल ध्यान कहते हैं।

अप्रतिक्रमणरूप व प्रतिक्रमणरूप भूमियां— अब जरा यहां विचार कीजिए इस प्रसंगमें अभी दो शब्द आये हैं प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। इन दो शब्दोंमें तीन भूमियां आयीं। प्रथम भूमि तो विषयी, कषायवान् मोही पुरुषोंका अप्रतिक्रमणरूप है। प्रतिक्रमण कहते हैं दोषोंको दूर करनेकी कोशिश करना। यह विषय कषायोंमें ग्रस्त मोही पुरुष दोषोंको दूर करनेकी कहां कोशिश कर रहा है? दोषोंके दूर करनेका यत्न न होना इसका नाम है अप्रतिक्रमण। यह मोही प्राणी अप्रतिक्रमणकी पहिली भूमिमें पड़ा हुआ है। इससे जब ऊँचे उठता है तो प्रतिक्रमणकी भूमि आती है। द्वितीय कक्षामें जहां लगे हुए दोषोंका प्रतिक्रमण किया जाता है। तपस्या करना, आलोचना करना, गुरुसे दोष निवेदन करना, विपरी-

स्थानोंसे हटना, अपने स्वभावकी ओर लगना--ये सब बातें प्रतिक्रमण-रूप हैं।

समक्षतावश प्रतिक्रमणरूप द्वितीयभूमिकी अमृतकुम्भरूपता व विषकुम्भरूपता— इन दोनोंमें अप्रतिक्रमण तो विषरूप है इसमें तो कोई संदेह ही नहीं और उससे उठकर जहां प्रतिक्रमण प्रयत्नमें आया तो वह अमृतकुम्भ है। भली बात है, किन्तु थोड़ा और विचार करें। दोषोंको दूर करनेका यह यत्न प्रतिक्रमणरूप कोशिश विकल्पसहित है। अभी इससे और ऊँचा चलना है तब साक्षात् मोक्षमार्ग मिलेगा। इससे ऊपरकी स्थिति होती है कि वहां न गुरुवोंसे दोष निवेदनकी वृत्ति है, न किसी प्रायश्चित्त किसी तपस्याको ग्रहण करनेकी वृत्ति है किन्तु वह। ज्ञानमय आत्मा ज्ञानभावके द्वारा ज्ञानमय आत्मासे ही मग्न हो जाता है। इस स्थितिमें यह उत्कृष्ट ध्यानी पुरुष क्या प्रतिक्रमण कर रहा है? तो इस ऊँची स्थितिका भी नाम अप्रतिक्रमण है। वह परम अमृतरूप है इस तृतीय अवस्थाके अप्रतिक्रमणके समक्ष यह प्रतिक्रमण भाव, द्वितीय अवस्थाको प्राप्त भाव विषकुम्भ है।

उत्कृष्ट स्थितिमें पहुंचनेका अनुरोध-- अब देखिये जब इस प्रतिक्रमणको ही विषकुम्भ कहा गया है तब यह अप्रतिक्रमण दोषोंकी परवाह न करके स्वच्छन्द बनकर दोषोंमें लगना, यह अमृत कैसे हो सकता है? इस कारण हे मोक्षमार्गके रुचिया संतों! नीचेके अप्रतिक्रमणमें मत लगो। उत्कृष्ट जो अप्रतिक्रमण है अर्थात् निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण है उस ओर लगना चाहिए। हमारी दृष्टि इस ज्ञायकस्वभावकी ओर होनी चाहिए। इस ज्ञायकस्वभावरूप आत्मतत्त्वके ध्यानके अतिरिक्त अन्य जितने भी ध्यान हैं, ख्यालात हैं वे सब संसारभ्रमणके मूल हैं। भले ही उन अनात्म-भावोंमें अपनी कल्पनासे हम धर्मका पालन कर रहे हैं, धर्मकी चीजोंका ध्यान कर रहे हैं ऐसे ध्यानध्येयकी प्रमुखतासे तपस्या कर रहे हैं, ऐसी कल्पना करके भले ही धर्मरूपसे मान लें, पर वे भी संसारके कारणरूप भाव हैं पुण्य भाव हैं। इन समस्त अनात्मभावोंको त्यागकर सहज परम आनन्दरूप अमृतसे भरे हुए इस आत्मामें अंतःमग्न जो सहज परमात्म-तत्त्व है कारणसमयसार शाश्वत स्वरूपमात्र, इस अंतस्तत्त्वको बुद्धिमान् लोग प्राप्त करते है और इस तरह इस निश्चयपरम शुक्लध्यानमें अर्थात् ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वकी मग्नतामें यह निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण होता है।

प्रतिक्रमण होता है।

अन्तर्मुखताका प्रभाव-- भैया! मोही जीवके दोषोंको करते रहने की तैयारी रहती है, किन्तु ज्ञानी जीवके पूर्वकृत दोषों पर प्रायश्चित्त पछतावा करनेकी तैयारी रहा करती है। उन मोहियोंके रौद्रध्यानमें, विषयोंकी दाहमें, अन्दरमें अनन्त आकुलता भरी हुई है और इस ज्ञानी जीवके उस अतीत दोषोंके रुदनमें, पछतावामें भी अन्तरमें अनन्त अनाकुलता की बात भरी पड़ी हुई है। ऐसे प्रतिक्रमणके द्वारसे जो जीव सर्व प्रकार अपने आत्मस्वरूपके अन्तर्मुख होते हैं और शुभ अशुभ समस्त मोह रागद्वेषका परित्याग करते हैं। इस कारण यह स्वाधीन निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान सर्व अतिचारोंको दूर कर देता है।

दोष दूरीकरणका यत्न-- यह जीव अनादिकालसे दोषोंका पिटारा बना हुआ चला आ रहा है। वे दोष दूर हों तो इसे शान्ति मिले। दोषों की प्रकृति अशान्ति उत्पन्न करती है। उन दोषोंका दूरीकरण होनेका उपाय सर्व प्रथम यह है। वह क्या कि इन दोषोंसे दूर होकर आत्मा निर्दोष भी रह सकता है, ऐसा श्रद्धान होना। जिसको यह श्रद्धान ही नहीं है कि मैं दोषरहित भी हो सकता हूं, मैं राग, द्वेष, मोह रहित भी हो सकता हूं, जिसे यह श्रद्धा ही नहीं है वह रागादिक रहित कैसे हो सकेगा? मैं राग द्वेष रहित हो सकता हूं ऐसा श्रद्धान बनानेके लिए यह श्रद्धान प्रथम आवश्यक है कि मेरा स्वरूप राग, द्वेष, मोहसे परे है, मेरे स्वरूपमें राग, द्वेष, मोह नहीं है। यह तो केवल ज्ञानप्रकाशमात्र है। ऐसे निर्दोष आत्मस्वरूपकी श्रद्धा हो तो यह श्रद्धा हो सकती है कि मैं इन रागादिक भावोंसे विमुक्त हो सकता हूं। रागादिक भावोंसे मुक्त हो सकनेकी श्रद्धा हो तो उसका यह यत्न हो सकता है कि वह कभी रागादिक भावोंसे सर्वथा मुक्त होकर अनन्त आनन्दका पात्र होगा।

मूलमें अल्प अन्तरका विस्तार-- यह जीव स्वयं आनन्दका भण्डार है, किन्तु आशा लगा लगाकर इसने अपना ज्ञान खोया और अपना आनन्द नष्ट किया। व्यर्थकी ऐसी आशा ही निराशा है। जो आशा करता रहेगा उसे निरन्तर निराश रहना पड़ेगा। जो किसी भी परद्रव्यकी आशा नहीं रखता है वह अपने अन्दरमें आनन्दतृप्त रहेगा। मेरा स्वरूप तो सिद्धके समान अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द का भण्डार है किन्तु यह अन्तर किस बातका हो गया है कि जो द्रव्य मैं हूं, वही द्रव्य भगवान है, चैतन्यस्वरूप एक है, फिर भी यह इतना महान अन्तर कि वह तो सकलज्ञेय ज्ञायक है और निजानन्दरसमें लीन है किन्तु

ये हम आप जन्म मरणके दुःख भोग रहे हैं, भूख प्यास, ठंड गरमीके क्लेश सह रहे हैं और कल्पना कर करके नाना विकल्प बनाकर झूठे मन के लिए मोहके स्वप्न देखा करते हैं। यह अन्तर किस बातका आ गया है? यह अन्तर मूलमें बहुत थोड़ीसी विधिका अन्तर है, वह क्या कि यह उपयोग जो आत्मप्रदेशमय है, आत्मासे बाहर जिसका अस्तित्व नहीं है इस उपयोगको अपने आत्मासे बाहर कर दिया है और जिन साधु संतों ने, ज्ञानी पुरुषोंने अपने उपयोगको अपने अन्तरकी ओर किया है उनको मोक्षमार्ग है।

बहिर्मुखतामें अशान्ति—इन बहिरात्मा पुरुषोंको चूँकि वे बहिर्मुख हैं अतः शांतिका मार्ग नहीं मिल सकता है। मोक्षमार्ग कहो या शान्तिमार्ग कहो दोनों ही एक बात है। संसारी लोग विषयोंके भोगनेमें शांतिका नाम लिया करते हैं, पर वास्तवमें वहां शांति है कहां? वहां आकुलता है, बेचैनी है। इसका प्रमाण यह है कि यदि आकुलता न होती तो विषयोंमें प्रवृत्ति क्यों की जाती? जिसके फोड़ा फुंसी नहीं है वह क्या कभी मलहमपट्टी करता फिरता है? जिसको जाड़ा, बुखार नहीं है वह क्या रजाईको लादता फिरता है कोई वेदना है इसलिए इलाज करना पड़ता है। इसी प्रकार अज्ञानभावमें मोही जीवको कितनी विचित्र वेदना उत्पन्न होती है, जिस वेदनाको शब्दोंसे भी नहीं कहा जा सकता। ऐसे विचित्र क्लेश कई प्रकारके होते हैं। जिस वेदनाको दूर करनेके इलाजमें यह जीव पंचेन्द्रियोंके विषयोंको भोगनेकी प्रवृत्ति करता है। स्वयं यह स्वभावतः शान्त है, किन्तु अपने शान्तस्वभावको छोड़कर अशांतभावमें पहुंच गया है। ऐसा यह दोष इस जीवको परेशान किए हुए है। जब तक उन दोषोंका निराकरण न किया जायेगा तब तक शांति न मिलेगी।

आजके दुर्लभ उत्कृष्ट समागमका अज्ञानमें दुरुपयोग—आज बड़े सौभाग्यसे हम आप सबने मनुष्य जन्म पाया है, मनुष्यभवमें भी उत्तम जाति उत्तम कुल पाया है, वहां भी उत्तम धर्म पाया है, धर्मके साधनोंका समागम पाया है, अब सोचो कि ये कुटुम्बके मोह, धन वैभवकी तृष्णायें, ये कितनी गंदी प्रवृत्तियां हैं? इन गंदी प्रवृत्तियोंमें अपने उपयोगको फंसाया तो इतने ऊँचे लाभसे गिरकर दुर्गतिमें पहुंचेंगे। आत्मा तो यही रहेगा, आज जो यहां मनुष्य है यह आत्मा जब कीड़ा मकौड़ा पेड़ वनस्पतिमें पहुंच जायेगा तब इसकी क्या दशा होगी? आज सब कुछ पाया है तो कुछ गम नहीं खाता है। चारों कषायोंमें कितने वेगसे दौड़ रहा है कि मानों यह ही निश्चय कर चुका यह कि जितना हम धन एकत्रित

करलें उतना हमारा हित होगा, उतना ही बड़प्पन होगा और इस धनके लिए हम जितना मायाचार कर सकें उतनी ही तो हमारी चतुराईकी कला है और ऐसी ही बुद्धिके कारण यह शरीरसे धन वैभवसे अपना मान समझता है, इन्हीं झंझटोंके कारण पद-पद पर इसके क्रोध भी उमड़ता है। चार कषायोंमें कोई भी एक कषाय हो उस ही से दुर्दशा हो जाती है, फिर जो चारों कषायोंमें मस्त हो रहा है उसकी दुर्गतिकी कहानी कौन कहे ?

स्पर्शनेन्द्रियवशतामें क्लेश— विषयोंकी भी बात देखो— एक-एक विषयके आधीन होकर जीव अपने प्राण गँवा देता है। स्पर्शन इन्द्रियके वश होकर हाथी जितना बड़ा जानवर भी अपने प्राण गँवा देता है अथवा परके आधीन हो जाता है। हाथीको पकड़ने वाले शिकारी लोग जंगलमें एक गड्ढा खोदते हैं, उस गड्ढे पर बांसकी पंचें बिछाकर पाट देते हैं और कागजसे मढ़कर उसपर एक झूठी हथिनी बनाते है और कोई १०० हाथ दूर उस हथिनीके सामने एक झूठा दौड़ता हुआ हाथी बनाते हैं। ऐसी स्थितिमें कोई सच्चा हाथी फिरता हुआ वहां आये तो इस झूठी हथिनीको निरखकर उससे प्रेम करनेके लिए दौड़ता हुआ आता है, इतने में दूसरा हाथी जो झूठा बना हुआ है जो दौड़ता हुआ नजर आ रहा है उसे देखकर यह हाथी यह चाहता है कि मैं सबसे पहिले इस हथिनीके पास पहुंचूँ। तो विवेक अब खत्म हो गया। उस हथिनीके नजदीक पहुंचता है कि बांस टूट जाते हैं और यह हाथी उस गड्ढेमें गिर जाता है। क्या था ? न हाथीकी उस हथिनीसे प्रीतिविषयक कल्पना होती और न वह फंसता। यह तो स्वच्छन्द जंगलमें ही आनन्दसे विचरता रहता। कौन सी कमी थी ?

रसनेन्द्रियवशतामें क्लेश— रसना इन्द्रियके वश होकर यह मछली अपना कंठ नुकीले लोहेकी फांसमें फंसा लेती है, ढीमर लोग जो मछली पकड़ने वाले हैं वे तालावके तटपर बैठकर बांसकी डंडोमें डोर बांधकर पानीमें लटकाते हैं और लोहेकी फांसमें मांस लटकाकर डाल देते है। यह मछली कुछ आगा पीछा नहीं देखती है और इतना उसका मन है कि चाहे तो वह सम्यक्त्व पैदा करले, इतना श्रेष्ठ मन मिला है फिर भी वह कुछ विवेक नहीं करती। मांसके खानेके लोभसे एकदम मुँह फाड़कर टूट पड़ती है और उसके कंठमें वह लोहेका फांस फँस जाता है, ढीमर लोग पानीसे निकालकर बाहर कर देते हैं। बाहर वह कुछ देर बाद मर जाती है या कोई निर्दयी तो उस जिन्दा मछलीको ही धधकती हुई आगमें डाल देता है, मछली अपने प्राण गवा देती है रसना इन्द्रियके वश होकर।

रसनेन्द्रियवशतामें मनुष्यकी विडम्बना— मछलीकी क्या कथा कहें—मनुष्यकी ही कथा देख लो। बीमार चल रहे हैं और मिठाई या चाट जो कुछ पसंद है उसे खाये बिना नहीं रहते है। बीमार हो गये, डाक्टरका बड़ा खर्च चल रहा है, दूसरेके आधीन होकर हाथ जोड़ रहे हैं पर इतना साहस नहीं है कि हम एक बार ही खायें अथवा अमुक चीज ही खायें तथा अपने मनसे कुछ स्वस्थ रहते हुए भी कभी-कभी उपवास कर लें, यह साहस नहीं होता है। इस साहसके फलमें डाक्टरमें जो पैसा खर्च होता है वह भी बंद हो सकता है, शरीर भी स्वस्थ रह सकता है और धर्मसाधनाके योग्य भाव चलेगा किन्तु व्यामोहमें यह बात नहीं सूझती है, मरे जा रहे हैं पर रसनाका विषय नहीं टूट सकता है और उनके परिचायक भी उस रोगीसे पूछते है कि तुम्हारा मन किस पर चलता है? अरे इस चीजपर चलता है। तो बहुत नहीं तो थोड़ा तो दे ही दो। रसना इन्द्रियके विषयके वश होकर यह मनुष्य भी क्या अच्छी जिन्दगीसे जी रहा है?

घ्राणेन्द्रियवशताके क्लेश— घ्राणेन्द्रियके वश होकर भँवरा भी अपने प्राण गँवा देता है। संध्याके समय कमलके फूलकी गंधमें मुग्ध होकर भँवरा फूलके अन्दर छुप जाता है, रात्रि शुरू होते ही फूल बंद हो जाता है। जिस भँवरेमें यह ताकत है कि काठको भी छेदकर आरपार निकल सकता है वही भँवरा विषयवासनाके वश होकर उस कमलके पत्तो को भी छेदकर नहीं निकलना चाहता है। स्वांस घुट जानेसे वह भ्रमर मर जाता है अथवा किसी हाथी आदिने आकर उस फूलको चबा लिया तो यों बुरी मौत मर जाता है। एक घ्राणेन्द्रियके विषयके लाभका री तो फल है।

नेत्रेन्द्रियवशतासे विडम्बना— नेत्रइन्द्रियके वश होकर ये पतंगे दीपककी लौ पर गिरकर अपने प्राण गंवा देते हैं, पर नेत्रेन्द्रियके वश होकर प्राण गँवा देनेमें यह मनुष्य क्या कम है? एक बार गुरुजी ने सुनाया था कि बनारसमें एक हसोने नाटक हो रहा था। उसमें उनके दोस्त उन्हें भी दिखाने ले गये थे। वहां कोई स्त्री रूपवान कलावान पार्ट कर रही थी। किसी बनारसके ही एक रईसके मनमें कुछ विभाव आया, काम वासना जगी, प्रीतिका भाव हुआ, एक पर्चेपर कुछ शब्द लिखकर उस पर्चे को स्टेजपर फेंक दिया इस ध्येयसे कि यह स्त्री इस पर्चेको खोलकर बांच ले, लेकिन उसने क्या किया कि उस पर्चेको पैरोंसे बुरी तरह रौंदकर जुगुप्सा भरी सूरत बनाकर उसका तिरस्कार कर दिया। उस रईसके पास

कोई चाकू या कटार थी, निकालकर उसने अपने पेटमें भौंक लिया और मर गया। यह मनुष्य क्या उन पतंगोंसे कम है ? एक नेत्रेन्द्रियके वश होकर यह जीव अपने प्राण भी गँवा देता है।

कर्णेन्द्रियवशताके क्लेश व मनुष्यकी पञ्चेन्द्रियवशता-- कर्णेन्द्रियके वश होकर सांप हिरन आदि जो संगीतके शौकीन हैं ये पकड़ लिए जाते हैं। जब एक-एक इन्द्रियके वश होकर ये जीव अपने प्राण गंवा देते हैं तो यह मनुष्य तो पंचइन्द्रियोंके वश हो रहा है। इन जीवोंसे ऐसी प्रकृति है कि मुख्यतासे वे एक-एक इन्द्रियके वश होते हैं पर यह मनुष्य मुख्यतासे पांचों इन्द्रियोंके वश हो रहा है।

शान्तिमार्गका विधिविधान-- ऐसे विषयकषायोंके दोषोंसे भरे हुए जीवोंको शान्तिका मार्ग तब तक नहीं मिल सकता है जब तक इन दोषों को दूर नहीं कर देते। अपने दोषोंके दूर करनेका साधन है ध्यान। यह मैं आत्मा निर्दोष हूं, केवल ज्ञानज्योतिमात्र हूं, आनन्दका निधान हूं, ऐसा स्वभावमें अभेद ध्यान करके जिसके यह निश्चय परमशुक्ल ध्यान अलौकिक प्रकाश प्रकट होता है वह परमार्थज्ञानयोगी है और उन्हें यह निर्दोष शुद्ध आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष होता है। इस कारण परमात्मतत्त्व की भेंटमें ऐसा प्रताप है कि समस्त दोष विलीन हो जाते हैं और इसके शांतिका मार्ग प्रशस्त होता है परमार्थप्रतिक्रमणके अधिकारमें शुद्ध आत्मा होनेकी यह विधि बनायी है, जो इस विधि पर चलेगा उसके सांसारिक समस्त संकट दूर हो जायेंगे।

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिकमणं ॥९४॥

व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता-- प्रतिक्रमण नामक अधिकारमें यह अंतिम गाथा है। इस गाथामें व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता बतायी गयी है, अर्थात् द्रव्य श्रुतप्रतिक्रमण सूत्रमें जैसा प्रतिक्रमण बताया गया है उस प्रतिक्रमणको सुनकर फिर सकलसंयमकी भावना करना, समस्त असंयमभावोंका त्याग करना, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अंतःस्वरूपमें संयत होना यह काम बन सका तो इसको कहते हैं सफलता। जैसे मंदिरमें खड़े होकर द्रव्य पूजा करनेकी सफलता क्या है कि उस विधिपूर्वक द्रव्य पूजा करते हुएमें अथवा द्रव्य पूजा करके शुद्ध ज्ञानविकासात्मक जो प्रभु है उस प्रभुके इस अनन्त विकासमें मग्न होना, शाश्वत सत्य जो गुण है उस गुणका अनुराग करना यह है द्रव्यपूजाकी सफलता। ऐसे ही व्यवहारप्रतिक्रमण की सफलता क्या है कि अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण दोनों भावोंसे उठकर

उत्कृष्ट जो अप्रतिक्रमण है उसमें अर्थात् निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमणमें मग्न होना, यह है व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता।

दृष्टान्तपूर्वक कर्तव्यकी सफलताका समर्थन— जैसे सीढ़ियों पर चढ़नेकी सफलता क्या है ? ऊपर आ जाना। कोई मनुष्य सीढ़ियों पर ही चढ़े उतरे तो ऐसे मनुष्यको तो लोग विवेकी न कहेंगे। इसके क्या धुन समायी है, कहीं दिमाग खराब तो नहीं हो गया है, यों लोग सोचेंगे। तो सीढ़ियोंपर चढ़नेकी सफलता है ऊपर आ जाना। ऐसे ही व्यवहार प्रतिक्रमणकी सफलता है अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण भावसे परे जो शुद्ध अंतःप्रतिक्रमण, उत्तमार्थप्रतिक्रमण है उसमें लीन हो जाना, इसका संकेत इस अंतिम गाथामें किया गया है।

प्रधान कर्तव्यकी प्राप्तिके लिये कर्तव्य— इससे यह भी स्पष्ट होता है कि व्यवहारप्रतिक्रमण भी उपादेय है और उससे भी अधिक उपादेय निश्चयप्रतिक्रमण है। जैसे नीचे खड़े हुए पुरुषका सीढ़ी पर चढ़ना भी कर्तव्य है और उससे अधिक कर्तव्य ऊपर आना है। यों समझ लीजिए कि प्रधान कर्तव्यके लिए कर्तव्य है। जैसे उस पुरुषका प्रधान कर्तव्य है ऊपर आना, इस प्रधान कर्तव्यकी पूर्तिके लिए उसका कर्तव्य है सीढ़ियों पर चढ़ना, ऐसे ही निश्चय स्वरूपमें पहुंचना प्रधान कर्तव्य है। निर्दोष गुणपुञ्ज अभेदस्वभावमें मग्न होना, उत्तमार्थप्रतिक्रमणरूप होना यह प्रधान कर्तव्य है। इस प्रधान कर्तव्यकी पूर्तिके लिए व्यवहारप्रतिक्रमण सूत्रमें जो बताया गया है तथा निर्यापक आचार्य जो आदेश देता है उसके अनुसार व्यवहारप्रतिक्रमण करना भी कर्तव्य है।

प्रतिक्रमणसूत्रका ज्ञाता— प्रतिक्रमणनामक सूत्रको पढ़नेका सबको अधिकार नहीं दिया गया है। जिन शास्त्रोंमें प्रायश्चित्त देनेका विधान है उन शास्त्रोंको पढ़नेका सबको अधिकार नहीं है। उसको प्रमुख आचार्य, समर्थ निर्यापक ही पढ़ सकता है। कारण यह है कि साधारणजनोंको यदि यह विदित हो जाय कि अमुक दोपका यह प्रतिक्रमण है, इस दोपका यह प्रायश्चित्त है तो वह स्वच्छन्द हो सकता है। अजी इस दोपका तो इतना ही प्रायश्चित्त है, हो जाने दो, कर लिया जायेगा प्रायश्चित्त। साथ ही एक बात और है कि शास्त्रके प्रतिक्रमण सूत्रोंमें दोपोंका जो प्रायश्चित्त बताया गया है हूबहू वही का वही देनेके लिये नहीं भी होता। देने वाले आचार्य निर्यापक उस दोपीके बलको देखकर, परिस्थितिको परखकर, उसके परिणामोंको निरखकर कितनी औपधि देनेसे लाभ होगा, सब बातें आचार्य परख कर प्रायश्चित्त देते हैं, किन्तु प्रायश्चित्त देनेका वही माध्यम है जो...

शास्त्रोंमें बताया गया प्रतिक्रमण है। अमुक दोषका इतना प्रतिक्रमण है यह माध्यम तो अवश्य है, इसको न छोड़कर इसके ही करीब करीब हीनाधिकरूपसे प्रायश्चित्त देनेका निर्यापक आचार्यको अधिकार है।

व्यवहारप्रतिक्रमणप्रदाताका बुद्धिबल-- कोई कोई तो ऐसे मुनीश्वर होते हैं कि उस ही अपराधको वे निवेदन कर दें और आचार्य यह कह दें कि यह बुरा हुआ अब न करना, बस यह प्रतिक्रमण हो गया और कोई मुनि ऐसे होते हैं कि वही दोष करें और उनको यह आदेश मिलता है कि तुम इतने दिन अनशन करो, इतने दिन गरमीमें तपस्या करो, या नीरस खावो कड़ा प्रायश्चित्त देते हैं। प्रायश्चित्तकी मंशा है दोष दूर हो जाना और आगे यह दोष न करे, ये सब बातें आचार्यदेवके विवेक पर निर्भर हैं। फिर भी प्रतिक्रमणसूत्रमें जो आधार बताया गया है और जो वर्णन किया है उस माध्यमसे निर्यापक आचार्य समस्त आगमके सार और असार तत्त्वका विचार करनेमें अत्यन्त निपुण होता है। आगममें जो हेयरूपसे कहने के लिए असार बात लिखी है उसका भी भली प्रकार निर्यापकको परिज्ञान होता है और उपादेयरूपसे जो सार बात लिखी होती है उसका भी गुण जाननेमें चतुर होता है, ऐसे निर्यापक आचार्योंने प्रतिक्रमण नामक सूत्रमें आगममें द्रव्य श्रुतमें बहुत विस्तारसे प्रतिक्रमणका वर्णन किया है। उसको साधारणतया जानकर और अपने निर्यापक आचार्यदेव यथा समय जो प्रतिक्रमण बताते हैं उसको प्राप्त कर जो मुनि सकल संयमकी भावना करते हैं उन मुनियोंके निश्चयप्रतिक्रमणकी पात्रता होती है। निर्यापक आचार्य उस प्रतिक्रमणके वर्णनको जानकर सावधान रहते हैं और सकल संयमकी धारणा करते हैं और अन्य साधुजन निर्यापक आचार्यदेवके बताये गये प्रतिक्रमण को जानकर वे भी सकल संयमकी धारणा करते हैं।

सकलसंयमका अन्तःकरण-- सकल संयमका अर्थ है सर्व परभावोंका, परपदार्थोंका, परतत्त्वोंका परित्याग करना और शुद्ध जो निजस्वरूप है, ज्ञायक भाव है उसमें संयत हो जाना। ये मुनिजन जिननीतिका उल्लंघन नहीं करते हैं, जैसा कुछ आगममें बताया गया है उस विधिसे अपनी व्यवहार प्रवृत्ति करते हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्तिरूप व्यवहारचारित्र का निर्दोष पालन करते हैं। निश्चयसंयमका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार संयमकी उपेक्षा करके अर्थात् व्यवहार संयमसे दूर रहकर उसका ग्रहण भी न करके अंतरंगमें आत्मस्वरूपमें संयत हो जाना, यह अर्थ नहीं है किन्तु व्यवहार व्रतोंको करके व्यवहार व्रतोंकी परिपूर्णता बनाकर दृष्टि

निश्चयस्वरूपमें संयत रहनेको बनाना चाहिए।

प्राक् पदवीमें संभाल बिना उत्तर सिद्धि न होनेका एक उदाहरण-- जैसे श्रावक अवस्थामें रहकर जिस श्रावकने साधुवोंको अनेक बार आहार दान कराया है वह श्रावक जब कभी मुनि बनेगा तो शुद्ध विधिसे ठीक चर्या सहित निर्दोष आहार ग्रहणकी वृत्ति बना सकता है। जैसे नीतिमें कहते हैं कि 'जिनसे घरमाहिं कछू न बनी उनसे बन माहिं कहां बनि है?' गृहस्थावस्थामें रहकर जिसके उदारता न जगी, दया उपकारकी वृत्ति न हुई, धर्मकी भावना न हुई, धर्मपालन भी न किया ऐसे उद्दण्डजन गृहको त्याग कर मुनि बनकर भी क्या करेंगे? कोई दुःखी पुरुष हो रसोइया हो, गाड़ीवान हो, नौकर हो, बड़ा दुःखी रहता है और सोच ले कि मुनि बन जायें तो लोगोंके हाथ भी जुड़ेंगे और अच्छी तरह जिन्दगी भी कटेगी। बन जाय मुनि। तो भला जिसने गृहस्थावस्थामें साधुवोंकी वैयावृत्ति नहीं की, अपनी शक्ति माफिक दान नहीं किया ऐसा पुरुष लौकिक कष्टसे अधीर होनेके कारण मुनि बन जानेके बाद किस हालतमें रहता है, कैसी उसकी चचल दृष्टि रहती है कैसी अकड़ रहती है, ये सब बातें प्रायः विदित ही हैं।

व्यवहारधर्मकी उपादेयता-- जो पुरुष गृहस्थावस्थामें बड़े विवेकसे रहा, धर्मपालन करके रहा, साधुवोंमें बड़ा अनुराग रखता रहा, वैयावृत्ति भी तन मनसे भली प्रकार की, ऐसा पुरुष ज्ञान और वैराग्यका विकास पाकर साधु होता है तो उसकी चर्या कैसी निर्दोष होती है, यों ही समझिये कि जो पुरुष व्यवहारसंयममें नहीं आते हैं, व्यवहारप्रतिक्रमण व्यवहार व्रत व्यवहारके धर्मसंयमकी बुद्धिका उल्लंघन करते हैं और निश्चयधर्मका दावा रखते हैं, प्रसिद्धि करते हैं, ऐसे पुरुष निश्चय धर्मके समीप नहीं पहुंच पाते हैं। सीढ़ीसे चढ़कर जाना ऊपरकी मंजिलमें पहुंचनेका कारण है। कोई सीढ़ीको पहिलेसे ही छोड़े रहे कि लोग कहते हैं कि सीढ़ीको छोड़ोगे तो ऊपर पहुंचोगे, तो हम तो पहिलेसे ही सीढ़ीके त्यागी बने हैं, ऐसा कोई सोचे तो वह ऊपर नहीं पहुंच सकता है।

जयमार्गानुसारिताका जयवाद-- जिन नीतिका उल्लंघन न करके निर्दोष चरित्रको धारण करता हुआ जो मुनि निश्चय धर्मकी भावना करता है वह मुनि बाह्य प्रपंचोंसे विमुख रहता है। उस महामुनिके केवल एक शरीरमात्र परिग्रह रह गया है। वह पंचेन्द्रियके विषयोंसे दूर है। इन्द्रियके विषयोंका रंच भी वहां उदय नहीं है। वह तो परम गुरु शुद्ध सिद्ध सर्वज्ञ वीतराग कार्यसमयसार और कारणसमयसारके गुणोंके स्मरणमें आसक्त रहता है, चित्त सिद्ध परमात्मामें अरहंत परमात्मामें

और आत्मस्वभावमें लीन रहा करता है, ऐसे साधुके प्रतिक्रमण हुआ करता है। धन्य हैं वे आचार्य जिन्होंने यह मार्ग प्रतिपादन किया है, धन्य हैं वे साधुजन जो निर्यापक आचार्यके व्याख्यान सहित, विवरण सहित वचनोंको सुनकर समस्त चारित्रके धारण करने वाले बन जाते हैं, शुद्ध निर्दोष संयमधारी हो जाते हैं ऐसे संयमधारी साधुजन भी नमस्कार के योग्य हैं।

सकलसंयमनिकेतनोंका अभिवादन-- निर्दोष उपदेशको बोलने वाला वक्ता भी महान् है तो निर्दोष उपदेशको सुनकर अपने ज्ञानमें उसे उतार लेने वाला श्रोता भी महान् है। और उस समय जहां वक्ता और श्रोता दोनोंका अंतःस्वरूपके लक्ष्यसे परिणमन चल रहा है उस समय ये दोनों निर्दोष और अन्तर्मुखी धुन वाले हैं। ऐसे ही वे निर्यापक आचार्य भी संयमी हैं जो निर्दोष संयमका प्रतिपादन करते है और वे मुनि भी संयमधारी हैं जो निर्दोष संयमका प्रतिपादन सुनकर उस समस्त संयमके घर बन जाते हैं। धन्य हैं वे साधुजन जो मोक्षकी इच्छा रखते हैं, कोई लौकिक कामना नहीं करते हैं, जिनके अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है, विषयकषायोंकी वृत्ति नहीं है, जिनके सदा प्रतिक्रमणरूप निर्दोष वृत्ति रहती है, जिनका सकल संयम ही भूषण है, अन्तर्मुखाकार उपयोग होते रहना ही जिनका शृङ्गार है, ऐसे संयमधारी पुरुषोंको मन, वचन, कायसे नमस्कार हो। इस तरह यह प्रतिक्रमण नामक अधिकार समाप्त होता है।